खण्ड 6
न्यायदर्शन

इकाई 22 न्याय दर्शन का परिचय (न्यायसूत्रकार गौतम और भाष्यकार वात्स्यायन)

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 न्याय दर्शन

- 22.2.1 नाम की अन्वर्थता
- 22.2.2 न्याय दर्शन के विविध नाम
- 22.2.3 न्याय शास्त्र का उद्देश्य और प्रयोजन
- 22.2.4 न्याय शास्त्र का महत्त्व

22.3 न्याय के प्रवर्तक एवं न्याय सूत्रकार

- 22.3.1 न्यायसूत्र का काल
- 22.3.2 न्याय के अन्य आचार्य
- 22.3.3 न्याय दर्शन के साहित्य

22.4 नव्य–न्याय

- 22.4.1 नव्य न्याय का उद्भव एवं विकास
- 22.4.2 नव्य न्याय की विशेषता
- 22.4.3 नव्य न्याय के प्रकरणग्रन्थ
- 22.4.4 नव्य न्याय के साहित्य

22.5 सारांश

22.6 बोध–प्रश्न

- 22.6.1 अति लघूत्तरीय
- 22.6.2 लघूत्तरीय
- 22.6.3 दीर्घोत्तरीय
- 22.6.4 अति लघूत्तरीय प्रश्नों के उत्तर

22.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

22.0 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप समझ पाएंगे कि–

- भारतीय दर्शन क्या है?
- न्याय दर्शन क्या है?
- इसके प्रवर्तक तथा इस शाखा के अन्य आचार्यों का क्या योगदान है?
- न्याय दर्शन के पदार्थ कितने हैं तथा उनका सामान्य परिचय क्या है?
- इन पदार्थों को जानने के लिये क्या क्या प्रवृत्तियाँ हैं?

22.1 प्रस्तावना

भारत में दर्शन–चिन्तन की परम्परा किसी ऐतिहासिक साक्ष्य पर निर्भर नहीं है। विश्व का आदि ग्रन्थ ऋग्वेद स्वयं में ही एक दर्शन के रूप में स्थापित है, जिसका व्यापक विस्तार उपनिषद्, गीता आदिग्रन्थों में स्पष्ट देखा जा सकता है। भारतीय दर्शन की समग्र परम्परा को सामान्यतया आध्यात्मिक दर्शन कहा जाता है, क्योंकि इसका परम प्रयोजन मोक्ष माना जाता है। किन्तु विशेष चिन्तन में तो परम सत्य की खोज इस भारतीय दर्शन का मूल है। एतदर्थ **आत्मावारेद्रष्टव्यः श्रोतव्योनिदिध्यासितव्यः** आदि श्रुतियाँ इसका समर्थन करती हैं।

परम सत्य के रहस्य की स्पष्टता को हमारे सामने प्रस्तुत करने के कारण ही भारतीय विचारधारा को मनु ने सम्यक्दर्शन कहा है। इस सम्यक्दर्शन से सम्पन्न व्यक्ति कर्मों के द्वारा बँधता नहीं है, इस दर्शन से हीन व्यक्ति ही संसार–चक्र में फँसता है– ऐसा मनु का कथन है–

सम्यग्–दर्शनसम्पन्नःकर्मभिर्ननिबध्यते।

दर्शनेनविहीनस्तुसंसारंप्रतिपद्यते।।6–74

भारतीय दर्शन की एक सर्वाधिक आकर्षक विशेषता है उसके विचारों का प्राचुर्य एवं वैविध्य। इसमें अणु से अणुतम तथा महान्सेमहत्तमतत्त्व की अवधारणा प्रस्तुत करने की क्षमता है। चिन्तन का प्रायः कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है, जिसका इसमें विवरण प्रस्तुत न किया गया हो। यही कारण है कि इसे भिन्न–भिन्न दृष्टियों से वर्गीकृत किया जाता है।

दार्शनिक चिन्तन की इस परम्परा का सर्वाधिक यथार्थवादी चिन्तन न्यायदर्शन है जो सांसारिक तथा पारमार्थिक रहस्य को समझने एवं समझाने में समस्या के सर्वाधिक निकट पहुंचता है। समस्या सुलझाने के इस क्रम में यह दर्शन तर्क का सर्वाधिक आश्रय लेता है। यही कारण है कि इस दर्शन ने तर्क की एक प्रणाली का निर्माण किया जो इसके प्रतिपाद्य में भी समाहित है। कालान्तर में यह प्रणाली सारे शास्त्रों की विवेचन पद्धति का मूल बन गयी। न्याय के सर्वाधिक निकट पाए जाने वाले दर्शन चिन्तन में बौद्ध चिन्तन प्रमुख है।

22.2 न्याय दर्शन

न्याय दर्शन भारतीय चिन्तन का अत्यन्त प्रभावी दर्शन है। इसके प्रभाव का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि न केवल दार्शनिक विवेचना में अपितु स्मृति, काव्य एवं व्याकरण जैसी अध्ययन की अन्य शाखाओं में इस दर्शन की व्याख्या पद्धति एवं शब्दावली का प्रयोग होता रहा है। ऐसा माना जाता है कि बिना न्याय पढ़े कोई विद्वान माना ही नहीं जाता। यह एक प्राचीन परम्परा है कि संस्कृत के विद्यार्थियों को प्रारम्भ से ही लघु सिद्धान्त कौमुदी के साथ–साथ न्यायशास्त्र से विद्याध्ययन का आरम्भ करवाया जाता है। न्याय का बोध हो जाने पर सारे शास्त्रों में सरलता से प्रवेश हो जाता है। कहा भी जाता है कि–**गौतमप्रथितंशास्त्रंसर्वशास्त्रोपकारकम्।**

इस दर्शन का उद्देश्य है प्रमाण के द्वारा ज्ञान के सत्या सत्य की परीक्षा करना। इसलिये इसे प्रमाण शास्त्र भी कहा जाता है। प्रमाण–लक्षण के द्वारा वस्तु सिद्धि की यथार्थ रीति निर्धारित करना ही न्यायशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है।

ऐसा माना जाता है कि कुतर्कियों से वेद की रक्षा के लिये ही इस शास्त्र का उदय हुआ। सर्व सिद्धान्त संग्रहकार ने ऐसा उद्घोष किया है–

नैयायिकस्यपक्षोयंसंक्षेपात्प्रतिपद्यते।
यत्तर्करक्षितोवेदोग्रस्तःपाषण्डदुर्जनैः।।

22.2.1 नाम की अन्वर्थता

न्याय दर्शन के सन्दर्भ में न्याय शब्द के कई अर्थ प्राप्त होते हैं। इस सन्दर्भ में यहाँ न्याय के प्राप्त अर्थों को जान लेना आवश्यक है। तद्य था–

क) '**नियमेनईयते**' इस व्युत्पत्ति से न्याय का अर्थ है नियमयुक्त व्यवहार। न्यायालय, न्यायाधीश आदि का प्रयोग इसी अर्थ में होता है।

ख) प्रसिद्ध दृष्टान्त के साथ सदृश अथवा लोक व्यवहार के अर्थ में भी न्याय शब्द का प्रयोग देखा जाता है। यथा– बीजांकुरन्याय, स्थालीपुलाकन्याय, घुणाक्षरन्याय आदि। इसे ही मुहावरा भी कहा जाता है।

ग) दर्शन जगत में न्याय का अर्थ है– **नीयतेप्राप्यतेविवक्षितार्थसिद्धिरनेनइतिन्यायः।** अर्थात् जिसके द्वारा प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि की जा सके, जिसकी सहायता से किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचा जा सके।

घ) उद्योतकर के अनुसार समस्त प्रमाणों के व्यापार के द्वारा किसी निष्कर्ष का प्राप्त होना ही न्याय है– **समस्तप्रमाणव्यपारादर्थाधिगतिर्न्यायः।**

ङ) जैन, मीमांसा प्रभृति दार्शनिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों के नामों में भी न्याय शब्द प्रयोग में दिखते है। यथा– न्याय कुमुदचन्द्र, न्याय रत्नाकर आदि। इन स्थलों पर न्याय शब्द का अर्थ है युक्ति संगत विवेचन।

किन्तु, इस विशेष प्रसंग में न्याय वास्तव में गौतमीय दर्शन के अर्थ में रूढ हो गया। यह एक तर्क प्रधान शास्त्र है। वात्स्यायन ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है– **प्रमाणैरर्थपरीक्षणंन्यायः।** इस प्रकार प्रमाण के द्वारा जहाँ पदार्थ का विवेचन किया गया हो, वहाँ उन सभी विषयों मे न्याय की व्याप्ति हो जाती है।

यह दर्शन प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश पदार्थों को मानता है। यह जीवों की बहुलता को स्वीकार करता है तथा ईश्वर में पूर्ण आस्था रखता है। इस प्रणाली के अनुसार मोक्ष समस्त पीडाओं एवं दुःखों के पूर्ण एवं परम निषेध की अवस्था है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द इन चार प्रमाणों के आधार पर यह समस्त सृष्टि की व्याख्या प्रस्तुत करता है। न्याय का कार्यकारण सिद्धान्त असत्कार्यवाद अथवा आरम्भवाद कहलाता है।

22.2.2 न्याय दर्शन के विविध नाम

विविध स्थलों पर प्रसंगों एवं उपयोगिता की दृष्टि से इस विचारधारा के विविध नाम प्राप्त होते हैं।

न्यायशास्त्र अपनी बीजावस्था में आन्वीक्षिकी विद्या के नाम से प्रसिद्ध था। यहाँ आन्वीक्षिकी का अर्थ है– **प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणम् अन्वीक्षा तया वर्तते इति आन्वीक्षिकी।** अर्थात् प्रत्यक्ष वा आगम के द्वारा उपलब्ध विषय का पुनः परीक्षण (अनु= पश्चात्, ईक्षण= अवलोकन) करना ही अन्वीक्षा है। इसलिये तर्क के द्वारा किसी विषय का अनुसन्धान करने की संज्ञा आन्वीक्षिकी कहलाती है। यही आन्वीक्षिकी विद्या कालान्तर में न्याय वा तर्क के नाम से प्रसिद्ध हुई– **सेयमान्वीक्षिकी न्यायतर्कादिशब्दैरपि व्यवह्रियते।** (वात्स्यायन 1.1.1)

आधुनिक समय में **न्यायशास्त्र** वा **तर्कशास्त्र** शब्द ही प्रचलित है। इस शास्त्र के अध्ययन से वाद करने की कला में प्रवीणता प्राप्त होती है। अतः इसे वादविद्या तथा वादशास्त्र भी कहा जाता है। न्यायदर्शन में प्रमाण का ही महत्त्व सर्वोपरि है अतः इसे प्रमाणशास्त्र भी कहते हैं। साध्य वस्तु को प्रमाणित करने के लिये सबसे मुख्य वस्तु है हेतु। विना हेतु दिये प्रतिज्ञा का कुछ भी मूल्य नहीं। इसलिये नैयायिक हेतु को बड़ा ही प्रमुख स्थान देते हैं। इसी कारण न्यायशास्त्र को हेतुविद्या भी कहते हैं।

न्यायदर्शन का मूलस्वरूप जो सूत्रग्रन्थ है उसके रचयिता हैं आचार्य गौतम। अतः न्याय दर्शन को गौतमीय शास्त्र कहते हैं। गौतम का एक नाम अक्षपाद भी है। अतः सर्वदर्शनसंग्रह में न्याय के लिये अक्षपाद दर्शन शब्द मिलता है। अन्यत्र न्याय को गौतमवाणी कहा गया है। रामायण में इसे गौतमी विद्या कहा गया है– **यः पठेत् गौतमीं विद्यां नहि शान्तिमवाप्नुयात्।**

न्यायशास्त्र का उद्देश्य है प्रमाण द्वारा ज्ञान के सत्य एवं असत्य की सम्यक् परीक्षा करना । इसलिये न्याय को **प्रमाणशास्त्र** अथवा **परीक्षाशास्त्र** भी कहा जाता है।

22.2.3 न्याय शास्त्र का उद्देश्य और प्रयोजन

प्रमाण–लक्षण के द्वारा वस्तुसिद्धि की यथार्थ रीति निर्धारित करना ही न्यायशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है।

न्यायदर्शन की यह स्थापना है कि विना प्रमाण के यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता और विना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती। इस तरह न्यायशास्त्र मोक्षप्राप्ति के लिये सोपान स्वरूप अथवा परमार्थ साधक है। न्यायसूत्रकार गौतम पहले ही सूत्र में कहते हैं– **प्रमाणप्रमेयसंशय.... तत्त्वज्ञानावन्निःश्रेयसाधिगमः** अर्थात् प्रमाण, प्रमेय आदि विषयों का तत्त्वज्ञान निःश्रेयस या चरम कल्याण का विधायक है। यही न्यायदर्शन का अन्तिम उद्देश्य है।

जब अज्ञात विषय के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न मत पाये जाते हैं तब स्वभावतः मन में यह शंका उठती है कि इनमें कौन सत्य है और कौन असत्य। इस शंका का समाधान करने के लिये युक्ति अथवा हेतु का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसी स्थिति में यह भी विचार करना होता है कि कौन पक्ष युक्तिसंगत है और कौन अयुक्तिसंगत। इसका सही रूप में निर्णय कैसे हो? इसके लिये कोई एक तार्किक मानदण्ड होना आवश्यक है। जो पक्ष प्रमाण की कसौटी में खरा उतरता है वही सत्य माना जाता है। वास्तविक निर्णयरूप इसी मानदण्ड को तैयार करने के लिये न्यायशास्त्र का प्रयोजन हुआ।

विना प्रयोजन के मूर्ख की भी किसी विषय में प्रवृत्ति नहीं होती– **प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते।** न्यायशास्त्र की उत्पत्ति भी प्रयोजनवश हुई। जब वेद में कही गयी बातों का कुछ लोगों के द्वारा अपनी सुविधा के लिए गलत अर्थ किया जाने लगा और उन अर्थों का दुरुपयोग होने लगा तब वेद के सच्चे अर्थ का निर्णय और युक्ति द्वारा उसकी पुष्टि करने की आवश्यकता आ पड़ी। ऐसे कुतर्कियों से वेद की रक्षा करने के लिये ही गौतमीय शास्त्र का जन्म हुआ। सर्वसिद्धान्तसंग्रहकार भी इस बात का समर्थन करते हैं–

नैयायिकस्य पक्षोऽयं संक्षेपात्प्रतिपद्यते।

यत्तर्करक्षितो वेदो ग्रस्तः पाषण्डदुर्जनैः।।

न्याय कर्ता गौतम ने वेद को प्रामाणिक और सत्य माना है। पीछे बौद्ध और जैन तार्किकों ने न्याय के ही विचारों या मतों से न्यायशास्त्र पर प्रहार करना प्रारंभ किया और वेद को असत्य सिद्ध करने लगे। इनके आक्षेपों के उत्तर देने के लिये नैयायिकों को अपनी स्थिति और भी सुदृढ़ करने की आवश्यकता पड़ी। परिणामतः न्यायशास्त्र का सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिमार्जन और अनुशीलन होने लगा। विपक्षियों के आक्रमण से स्वयं की रक्षा के लिये विविध प्रकार के वाग्जालरूपी अभेद्य कवच तैयार किये गये। धीरे–धीरे वाग्युद्ध में विजय प्राप्त करना ही नैयायिकों का मुख्य लक्ष्य बन गया। येन केन प्रकारेण वाक कला आदि के द्वारा प्रतिपक्षियों को पराजित करने में ही पराक्रम और प्रतिष्ठा समझा जाने लगा। इस प्रकार वाद के स्थान पर जल्प और वितण्डा की प्रधानता हो गई।

यद्यपि न्यायशास्त्र का वास्तविक उद्देश्य तत्त्वबोध अर्थात् विषय का वास्तविक ज्ञान है, फिर भी सामन्यातः लोग पाण्डित्य–प्रदर्शन तथा शास्त्रार्थ में विजयप्राप्ति की कामना से ही इस न्यायशास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं। किन्तु यथार्थ नैयायिक उसी को समझना चाहिये जो विजिगीषु (विजय की इच्छा वाला) नहीं होकर तत्त्वबुभुत्सु (तत्त्व का भूखा अर्थात् तत्त्व को जानने की इच्छा वाला) हो। व्यक्तिगत जय–पराजय की ओर थोड़ा भी ध्यान न देकर सत्यपक्ष का ग्रहण और असत्य पक्ष का परित्याग करना ही नैयायिक का वास्तविक धर्म है। जो इस उद्देश्य से प्रेरित होकर न्याय का अध्ययन करता है, उसी की विद्या सार्थक है।

22.2.4 न्यायशास्त्र का महत्त्व

भारतीय चिन्तन परम्परा में न्यायशास्त्र का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। न्याय के अध्यायन के बिना शास्त्रों के अर्थों को सुलझा पाना दुष्कर है। इसके बिना तो कोई विद्वानों की भी गणना में नहीं आ सकता। व्याकरण और न्याय ये दोनों विषय विद्वानों के लिये अनिवार्य हैं।

न्याय की तर्कशैली और उसके पारिभाषिक शब्द भारतीय संस्कृति में घुलमिलकर उसके आवश्यक अंग बन गये हैं। यहाँ तक कि अन्यान्य दर्शन भी जो न्याय से मतभेद रखते हैं, न्याय के ही पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते हैं। न्याय के किसी सिद्धान्त का खण्डन करने के लिये भी उन्हें न्याय के द्वारा अनुमोदित पद्धति का ही अवलम्बन करना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि न्यायदर्शन की व्यापकता और उपयोगिता कैसी है?

मनु, याज्ञवल्क्य आदि पुराने धर्मशास्त्रकारों के काल में भी न्यायशास्त्र को आदर की दृ ष्टि से देखा जाता था। उस समय की प्रमुख शास्त्रों में इनकी गणना थी। मनु के अनुसार–

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्रविधिना।

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।। मनुस्मृति 12/106

अर्थात् जो तर्क के द्वारा वेदशास्त्र के अर्थ का तत्त्वान्वेषण करता है वही धर्म के यथार्थ मर्म को समझ सकता है, दूसरा नहीं। चतुर्दश विद्याओं के अन्तर्गत न्याय का भी स्थान है। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि–

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दशः।।1.3

तदनुसार याज्ञवल्क्यस्मृति में प्रतिपादित चतुर्दश विद्याएँ ये हैं– (१) चार वेद, २) छः वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष), (३) चार उपाङ्ग (पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र)। न्यायशास्त्र वेद का उपाङ्ग है ऐसा वचन पुराण में भी पाया जाता है– **मीमांसा न्यायतर्कश्च उपाङ्गः परिकीर्तितः।**

इसी प्रकार कौटिलीय अर्थशास्त्र के विद्यासमुद्दोश प्रकरण में चार प्रकार की विद्याएँ मुख्य बतलाई गई हैं। ये चारों विद्याएँ हैं–

1) त्रयी (तीनों वेद),
2) दण्डनीति (राजनीति),
3) आन्वीक्षिकी (तर्क और दर्शनशास्त्र) तथा
4) वार्त्ता (अर्थशास्त्र)–

त्रैविद्यभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिञ्च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीमात्मविद्यां वार्तारम्भां च लोकतः॥ मनुस्मृति 7.43

आन्वीक्षिकी विद्या के विषय में कौटिल्य ने स्पष्ट करते हुए कहा है–

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

अर्थात् आन्वीक्षिकी सारी विद्याओं को दीपक की तरह प्रकाश देने का काम करती है। यह समस्त कार्यों का साधन और सभी धर्मों का आश्रय स्वरूप है।

इस देश में विद्याध्ययन की जो प्राचीन परम्परा चली आती है, उसमें आज भी ये पाँच विषय प्रधान हैं– काव्य, नाटक, अलङ्कार, व्याकरण और तर्क। यह तर्कविद्या ही न्याय है। तर्कशास्त्र यथार्थतः सभी शास्त्रों के लिये प्रकाश–स्वरूप है।

22.3 न्याय के प्रवर्तक एवं न्यायसूत्रकार

न्याय दर्शन के प्रणेता कौन थे, इनका वास्तविक नाम क्या था या न्यायशास्त्र के वास्तविक प्रणेता कौन थे– चिन्तकों के लिये इस प्रश्न के समाधान का मार्ग सरल नहीं रहा है। क्योंकि संस्कृत साहित्य के विविध ग्रन्थों में न्यायशस्त्र के प्रवर्तक का उल्लेख विविध नामों से प्राप्त होता है। पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, गान्धर्वतन्त्र, नैषधीयचरित, विश्वनाथवृत्ति आदि ग्रन्थों में न्याय के प्रवर्तक के रूप में महर्षि गौतम का उल्लेख प्राप्त होता है। अन्यत्र महाकवि भास के प्रतिमा नाटक में मेधातिथि तथा न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका एवं न्यायमंजरी में अक्षपाद नाम का उल्लेख किया गया है। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण के मतानुसार गोतम एवं अक्षपाद दो आचार्य थे। आचार्य विश्वेश्वर ने भी दोनों को एक न मानकर गोतम को अध्यात्म प्रधान सूत्रों का रचयिता तथा अक्षपाद को प्रमाण विवेचन के साथ न्यायसूत्रों का संस्कर्ता माना है।

किन्तु, मान्य परम्परा अब इसे गौतम ही मानती है तथा विविध नामों को उनका प्रासंगिक उपनाम कहती है। इस विषय में कई उद्धरण भी प्राप्त होते हैं। यथा–

क) मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्– प्रतिमानाटकम् पञ्चम अङ्क।

ख) गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै– पद्मपुराण।

ग) वाचस्पति ने अक्षपाद को न्यायशास्त्र का प्रणेता कहा है।

घ) महाभारत के शान्तिपर्व में भी गौतम का मेधातिथि नाम से उल्लेख पाया जाता है।

अक्षपाद नाम की प्रसिद्धि के पीछे एक मनोरञ्जक किंवदन्ती है। कहा जाता है कि महर्षि गौतम प्रतिदिन निस्तब्ध रात्रि में एकान्त भ्रमण करते और शास्त्रचिन्तन में तल्लीन हो सूत्ररचना करते चलते थे। वे अपनी विचारधारा में इतने मग्न हो जाते थे कि आगे क्या है, इसकी उन्हें कुछ भी सुध नहीं रहती थी। एक दिन वे किसी पदार्थ का विश्लेषण करते–करते कुएँ में जा गिरे। इस प्रकार उनके तत्त्वचिन्तन में बाधा पड़ते देख विधाता ने उनके पाँवों में भी दृष्टिशक्ति प्रदान कर दी। तब से वे अक्षपाद (जिसके पाँव में आँख हो) कहलाने लगे।

सार रूप में इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि न्यायदर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि ही हैं तथा इन्हें मेधातिथि तथा अक्षपाद भी कहा जाता है। गौतम, इनका गोत्र नाम था। इनका व्यक्तिगत नाम अक्षपाद था। ये मिथिला के निवासी थे।

प्रवर्तक होने का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि गौतम को ही इसके प्रथम ज्ञान का उद्बोधन हुआ या इससे पूर्व तर्क विद्या थी ही नहीं। बल्कि तर्क का अस्तित्व तो उसी समय से मानना पड़ेगा जब से मनुष्य के मस्तिष्क में बुद्धि है। उपनिषत् काल में भी विविध विषयों को लेकर तर्क–वितर्क करने की परम्परा प्रचलित थी। किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि गौतम के पहले तर्कविद्या सुव्यवस्थित रूप में नहीं थी। कम–से–कम गौतम के पूर्व का कोई ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसमें तर्क, प्रमाण, वाद प्रभृति का नियमबद्ध निरूपण हो। गौतम ने तर्क–विद्या के लिये वही किया है जो पाणिनि ने व्याकरण के लिये किया है। इन शास्त्रों का कोई व्यक्तिविशेष जन्मदाता नहीं हो सकता, केवल उन्नायक हो सकता है। जिस तरह पाणिनी ने व्याकरण के नियमों को शृङ्खलाबद्ध किया, उसी प्रकार गौतम ने प्रमाणशास्त्र के तत्वों का विश्लेषण कर उसे नियन्त्रित रूप दिया।

22.3.1 न्यायसूत्र का काल

भारतीय परम्परा के अन्य शास्त्रों की तरह ही यह भी प्रायः अनिश्चित सा ही है कि न्यायशास्त्र तथा इसके सूत्र ग्रन्थ न्यायसूत्र का समय क्या है। गोल्डस्टूकर और उसके आधार पाणिनि–सूत्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि न्यायशास्त्र पाणिनि से पूर्व का शास्त्र है। पुनरपि इस सम्बन्ध में कई भिन्न मत प्राप्त होते हैं। न्यायशास्त्र का सबसे पुराना ग्रन्थ जो इस समय मिलता है वह न्यायसूत्र है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह न्यायसूत्र ठीक इसी रूप में पाणिनि के पूर्व लिखा गया है।

पाश्चात्य और भारतीय विद्वान न्यायसूत्र में बौद्धों के द्वारा प्रवर्तित शून्यवाद और विज्ञानवाद का खण्डन देखकर न्यायसूत्र का रचना काल बौद्ध युग में सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इस दृष्टि से गौतम का समय बुद्ध के पश्चात् और नागार्जुन, वसुबन्धु आदि के आसपास ठहरता है। इसी आधार पर जर्मन विचारक याकोबी न्यायसूत्र की रचना तीसरी शताब्दी मानते हैं। इसके विरोध में प्राचीन विद्वानों का मत है कि ये वाद बुद्ध से पूर्व आदि सर्ग से ही प्रवृत्त हैं। यह मत जयन्तभट्ट द्वारा प्रतिपादित है– **आदिसर्गात् प्रभृति वेदवदिमाविद्याः प्रवृत्ताः, न्यायमञ्जरी।** किन्तु हरप्रसाद शास्त्री के

अनुसार न्यायसूत्र का प्रणयन द्वितीय शतक में हुआ था। इन मतों से भिन्न, सतीशचन्द्र विद्याभूषण का मानना है कि न्यायसूत्र की रचना विक्रमपूर्व छठी शताब्दी में हुई थी।

इस प्रकार उपर्युक्त मतों के आधार पर न्यायसूत्र तथा न्याय दर्शन का काल विक्रमपूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी तक सिद्ध किया जाता है। इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि न्यायसूत्रों के अनेक सूत्र अत्यन्त आधुनिक काल के हैं। जिन सूत्रों में बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन हुआ है उनकी रचना बौद्धकाल के बाद की है बौद्ध मत की आलोचना के प्रकरण में लिखे गए अनेक सूत्रों के शब्द–विन्यास से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह सूत्र बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर लिखे गए हैं। दोनों की, विषय के साथ आनुपूर्वी और शब्दविन्यास में भी कुछ समानता है।

उपर्युक्त सारी स्थिति से यही परिणाम निकलता है कि न्याय–सूत्रों की रचना किसी एक काल में नहीं हुई होगी।

22.3.2 न्याय के अन्य आचार्य

आचार्य गौतम के पश्चात् न्यायसूत्र के ऊपर भाष्य आदि लिखने वाले तथा न्याय के सिद्धान्त को आगे बढ़ाने वाले आचार्यों की एक सुदीर्घ परम्परा देखी जाती है। इन आचार्यों का संक्षिप्त परिचय अग्रांकित है–

(क) **वात्स्यायन**– गौतम के न्यायसूत्र पर प्राचीनतम टीका वात्स्यायन कृत न्यायभाष्य है, इसे वात्स्यायन भाष्य भी कहा जाता है जिसमें इन्होंने सूत्रानुसारी भाष्य प्रस्तुत किया है। दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा में इनको विविध नामों से जाना जाता रहा है। इन्हें पक्षिलस्वामिन् भी कहा जाता है। वात्स्यायन कदाचित् इनका गोत्र नाम रहा होगा। यह भी कहा जाता है कि कामसूत्र के लेखक वात्स्यायन तथा न्यायभाष्यकर्ता एक ही व्यक्ति हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य हेमचन्द्र का विचार विशेष द्रष्टव्य है–

अभिधानचिन्तामणि नामक अपने ग्रन्थ में हेमचन्द्र ने वात्स्यायन के अनेक नामों का निर्देश किया है, जो इस प्रकार है–

वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।

द्रामिलः पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्तोऽङ्गुलञ्च सः॥

इसके अनुसार वात्स्यायन, पक्षिलस्वामी, कौटिल्य और चाणक्य सब एक ही व्यक्ति के नाम हैं और वह द्रविड़ देश का रहनेवाला प्रतीत होता है जिसकी राजधानी कांचीपुर वर्तमान काचीवरम् थी। इसीलिए उसके नामों में **द्रामिल** भी एक नाम है और पक्षिलस्वामी नाम भी उसी देशवासी का प्रतीत होता है।

वात्स्यायन के जो नाम अभिधान–चिन्तामणि में प्राप्त होते हैं उनमें कौटिल्य और चणकात्मज यह दो नाम भी हैं। नन्दवंश के विध्वंसक और मौर्य साम्राज्य के संस्थापक आर्य चाणक्य का नाम भारतीय इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। कौटिल्य भी उन्हीं का दूसरा नाम है। अब यदि अभिधान–चिन्तामणि में वात्स्यायन के जो नाम दिए हैं वह सब वस्तुतः एक ही व्यक्ति के नाम हैं तो यह मानना पड़ेगा कि आचार्य चाणक्य ही वात्स्यायन नाम से न्यायदर्शन के भाष्यकार हैं।

वात्स्यायन के नाम से ही वर्तमान समय में कामशास्त्र के आधारभूत कामसूत्र मिलते हैं। अत एव अभिधान–चिन्तामणि के अनुसार न्यायभाष्य, कौटिल्य अर्थशास्त्र और कामसूत्र तीनों के रचयिता एक ही व्यक्ति हो सकते हैं। किन्तु इस मत से कि वे दक्षिण भारतीय थे सहमति नहीं बनायी जा सकती। क्योंकि कौटिल्य तथा कामसूत्रकार वात्स्यायन दोनों उत्तर भारतीय अथ वा मगध प्रदेश के थे ऐसा प्रायः स्थापित है।

(ख) आचार्य उद्योतकर

प्राचीन न्याय के साहित्य में वात्स्यायनकृत न्यायभाष्य के पश्चात् समय और महत्व दोनों की दृष्टि से दूसरा स्थान न्यायवार्तिक का है। न्यायसूत्र के ऊपर लिखे गये वात्स्यायनभाष्य पर उद्योतकर ने टीका लिखी है। इनका काल 635 ई० माना जाता है। सुबन्धु की वासवदत्ता में उद्योतकर का उल्लेख प्राप्त होता है।

ऐसा माना जाता है कि आदि बौद्ध आचार्यों ने वात्स्यायनभाष्य का जो खण्डन किया उसी का उद्धार करने के लिए उद्योतकर ने इस न्याय–वार्तिक की रचना की है। इस सन्दर्भ में उन्होंने स्वयं लिखा है–

यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां, शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः, करिष्यते तस्य मया प्रबन्धः।।

वासवदत्ता नामक प्रसिद्ध गद्य काव्य के निर्माता श्री महाकवि **सुबन्धु** ने भी अपने ग्रन्थ में न्याय के स्वरूप की रक्षा करने वाले के रूप में उद्योतकर का स्मरण किया है– 'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपां बौद्धसङ्गितमिवालङ्कारभूषिताम् वासवदत्तां ददर्श।'

पाशुपताचार्य और भारद्वाज इन दो नामों से भी कहीं–कहीं उद्योतकर का उल्लेख मिलता है। यह दोनों नाम उनके गोत्र और सम्प्रदाय के कारण प्रसिद्ध हैं। उन्होंने स्वयं भी विशेषण रूप से अपने लिए इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया है– इति श्रीपरमर्षिभारद्वाज–पशुपताचार्यश्रीमदुद्योतकरकृतौ न्यायवार्तिके पञ्चमोध्यायः।

उद्योतकर ने इस टीका न्यायवार्त्तिक की रचना बौद्ध विचारक दिङ्नाग की आलोचना से न्यायदर्शन की रक्षा करने के लिये की थी। इन्होंने अपनी इस न्यायवार्त्तिकटीका में न्याय के अनेक सिद्धान्तों की नूतन व्याख्या दी है तथा यथास्थान बौद्ध मतों का खण्डन भी किया है।

उद्योतकर ने इस प्रश्न को एक विचित्र ढंग से उठाया है। उनका कहना है कि बौद्ध विद्वान् यदि आत्म तत्व का खण्डन करते हैं तो वह वस्तुतः अपने ही सिद्धान्त और अपने ही धर्म ग्रन्थों के विपरीत बोलते हैं।

न्याय–सिद्धान्त की दृष्टि से वार्तिककार सूत्रकार से अनेक स्थलों पर आगे बढ़कर विश्लेषण करते हैं। जिन बातों का वर्णन सूत्र में नहीं है और न हो सकता था इस प्रकार के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख उन्होंने वार्तिक में किया है। उद्योतकर के ये सिद्धान्त बाद में यहीं से उत्तरवर्ती न्याय साहित्य में आया है। इस प्रकार के सिद्धान्तों में से कुछ निम्नांकित हैं–

प्रत्यक्ष प्रकरण में षोढा सन्निकर्ष।

अनुमान प्रकरण में– अनुमान में केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी वह तीन प्रकार के भेद।

शब्द प्रकरण में– स्फोटानुसार पूर्व पूर्व वर्णा के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के साथ साथ चरम वर्ण के श्रवण से उत्पन्न पद तथा वाक्य की प्रतीति।

(ग) वाचस्पतिमिश्र

भारतीय दर्शन के महान् विद्वान् वाचस्पति मिश्र मिथिला के निवासी तथा अति प्रतिभाशाली विद्वान् थे। ये भारतीय दर्शन की समस्त प्रणालियों पर समान अधिकार रखते थे, यही कारण है कि इन्हें षड्दर्शनवल्लभ या सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र कहा जाता है। उनके ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि उनके गुरु का नाम त्रिलोचन था।

न्याय के क्षेत्र में इनका विशिष्ट अवदान न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका है, जो उद्योतकर के न्यायवार्तिक पर लिखी गयी टीका है। वार्तिक के अर्थों को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने यह टीका लिखी क्योंकि कतिपय अन्य स्तरहीन ग्रन्थों के कारण इसका अन्तस्तत्त्व मलिन सा होता जा रहा था। न्यायवार्तिक को भी बौद्ध विद्वानों की ओर से कुछ प्रतिकूल आलोचना हुई। उसके उद्धार के लिए वाचस्पति मिश्र को न्यायवार्तिक– तात्पर्यटीका लिखने की आवश्यकता पड़ी। सभी दर्शनों पर उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान वेदान्त दर्शन के 'शाङ्करभाष्य' की टीका **भामती** का है । टीका का यह नामकरण उन्होंने अपनी पत्नी के नाम पर किया है।

उनके विषय में एक दंतकथा प्रचलित है कि वे एक बड़े विरक्त और कर्तव्यलीन दार्शनिक थे। विवाहित होते हुए भी वे गृहस्थ धर्म से पराङ्मुख ही रहे तथा सदैव गम्भीर मनन और दार्शनिक साहित्य की सृष्टि में प्रयत्नशील रहे। वृद्धावस्था के आ जाने पर भी उनकी कोई सन्तान नहीं थी। ऐसी स्थिति में एक दिन उनकी पत्नी ने दुःखी होकर वंश की रक्षा और नाम चलाने की आवश्यकता की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। इस पर उन्होंने पत्नी को जो उत्तर दिया वह सर्वथा मर्मस्पर्शी है।

उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि पुत्र के होने पर भी हमारा नाम, कुल गोत्र या वंश चलता रहे इस विषय में कुछ भी कह पाना कठिन है। मैंने सर्वथा इसकी उपेक्षा की न ही अब ऐसी अवस्था है कि अब इस विषय में सोचूँ। किन्तु यह अवश्य है कि तुम्हारे नाम को अमर करने के लिए मैं अपनी सर्वोत्तम कृति वेदान्त भाष्य की टीका का नाम तुम्हारे नाम को ही समर्पित करता हूँ। यह कदाचित् संभव है कि सन्तति से वंश को प्रसिद्धि एक या दो पीढी तक ही प्राप्त हो, परन्तु अब तुम्हारा नाम सदा के लिए इतिहास में अंकित हो जाएगा। आचार्य वाचस्पति मिश्र विषयक यह कथा विश्वसाहित्य की सर्वोच्च भावनाओं में से एक है।

सही अर्थों में आज वाचस्पति मिश्र और भामती का नाम भारतीय साहित्य में सदा के लिए अमर है जो उनके अनेकानेक सन्ततियों से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(घ) उदयनाचार्य

न्यायजगत् में वाचस्पति मिश्र के बाद श्री उदयनाचार्य का स्थान है। भारतीय दर्शन क्षेत्र की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाओं में अग्रगण्य नैयायिक उदयन भी मिथिलावासी थे। इन्होंने स्वयं अपना काल 906 शक संवत् (984 ई०) बताया है। लक्षणावली नामक अपनी लघु कृति में उन्होंने वैशेषिक दर्शन के तत्त्वों का परिचय दिया है। इसी में उन्होंने अपना कालविषयक विवरण भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका पर परिशुद्धि नामक टीका लिखी। न्यायदर्शन पर उदयन विरचित अन्य तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं– न्यायपरिशिष्ट, आत्मतत्त्वविवेक एवं न्यायकुसुमाञ्जलि। उदयन ने प्रशस्तपादभाष्य पर भी किरणावली नाम से अपनी महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है।

बौद्ध दार्शनिकों ने जिस प्रकार वाचस्पति मिश्र से पूर्व नैयायिक विद्वानों की आलोचना की उसी प्रकार वाचस्पति मिश्र की भी आलोचना की। उसके उद्धार के लिए श्री उदयनाचार्य ने **न्यायवार्तिक–तात्पर्य–टीका–परिशुद्धि** नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त बौद्ध विद्वानों के संघर्ष के कारण ही उन्होंने **न्यायकुसुमाञ्जलि** और **आत्मतत्वविवेक** नामक दो अत्यन्त उच्च श्रेणी के दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की है। इनमें से कुसुमाञ्जलि में ईश्वर–सिद्धि का सफल और स्तुत्य प्रयास किया गया है।

उदयनाचार्य के बाद यह टीका–प्रटीका की पद्धति प्रायः समाप्त हो गई, परन्तु प्राचीन पद्धति से न्यायसूत्रों के ऊपर स्वतन्त्र वृत्ति आदि की रचना लगभग सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही। ऐसे में कुछ अन्य प्रसिद्ध टीकाकारों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है–

(ङ) जयन्त भट्ट

उदयन के उत्तरवर्ती नैयायिकों में जयन्त भट्ट का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। इनका अनुमानित समय 850–910 ई० के बीच है। उनकी न्यायमञ्जरी एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। उनकी यह ग्रन्थ यद्यपि न्यायदर्शन की एक टीका मानी जाती है, तथापि भारतीय दर्शन में यह एक महत्त्वपूर्ण अवदान है। यह न्याय के चुने हुए सूत्रों पर एक स्वतन्त्र टीका है। न्यायमतों की स्थापना के साथ–साथ यह एकदेशी तथा सिद्धान्ती मत का एक मौलिक शोधग्रन्थ है जो न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में स्वतन्त्र रचना का मार्ग प्रशस्त करता है। उनकी लेखन शैली चुटीली, सशक्त एवं कहीं–कहीं व्यङ्ग्यात्मक भी है।

(च) भासर्वज्ञ

ये कश्मीर के निवासी थे। इन्होंने न्याय दर्शन पर **न्यायसार** नामक एक क्रान्तिकारी ग्रन्थ की रचना की, जो कई स्थलों पर न्याय–दर्शन की स्थापित परम्परा का विरोध करता है। जैसे– न्याय के द्वारा प्रतिपादित चार प्रमाणों को न मानकर ये तीन ही प्रमाणों को मानते हैं। इस ग्रन्थ पर उन्होंने स्वयं ही **न्यायभूषण** नामक टीका भी लिखी।

(छ) विश्वनाथ

विश्वनाथ ने न्यायसूत्र पर वृत्ति नामक एक स्वतन्त्र एवं संक्षिप्त टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने न्यायवैशेषिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये सर्वाधिक

प्रसिद्ध कृति **कारिकावली** की रचना की। जिसका अन्य नाम **भाषापरिच्छेद** भी है। इसमें 168 कारिकाएँ हैं। इस पर उन्होंने **सिद्धान्तमुक्तावली** नामक टीका लिखी, जो **न्यायद्विान्तमुक्तावली** नाम से प्रसिद्ध है।

22.3.3 न्यायदर्शन के साहित्य

गौतम के न्यायसूत्र से प्रारम्भ न्यायदर्शन के साहित्य की एक सुदीर्घ परम्परा है। न्यायसूत्र के बाद न्याय–शास्त्र का दूसरा पुराना ग्रन्थ **वात्स्यायनभाष्य** है जिसका रचनाकाल 100 वि० सं० (जैकोबी के अनुसार 300, अन्यों के अनुसार 400 वि०सं०) के लगभग माना जाता है। 400 वि० सं० से लेकर 1000 वि० सं० तक के 600 वर्षों में न्याय–शास्त्र के जिस प्रचुर साहित्य का निर्माण हुआ उस सारे न्याय साहित्य का आधार ग्रन्थ न्यायसूत्र और वात्स्यायनभाष्य ही हैं। अन्य जो कुछ भी साहित्य तैयार हुए वे सभी इन्हीं के समर्थन में और उन्हीं की टीका–प्रटीका के रूप लिखे गये हैं। कालान्तर में ये साहित्य ही न्याय की विचारधारा के सम्पोषक हुए। इसीलिए उस सबको प्राचीन न्याय साहित्य के नाम से कहा जाता है।

कालान्तर में प्राचीन न्याय के जिस साहित्य का निर्माण हुआ, आपकी सुविधा के लिये उसकी सूची यहाँ नीचे प्रस्तुत की जा रही है–

१.	न्याय सूत्र	गोतम अक्षपादकृत
२.	न्यायभाष्य	वात्स्यायन
३.	न्यायवार्तिक	उद्योतकर
४.	न्यायवार्तिक–तात्पर्यटीका	वाचस्पति मिश्र
५.	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि	उदयनाचार्य
६.	जयन्त भट्ट	न्यायमञ्जरी
७.	न्यायनिबन्ध–प्रकाश	वर्धमान
८.	न्यायालङ्कार	श्रीकण्ठ
६.	न्यायसूत्रोद्धार	वाचस्पति मिश्र (द्वितीय)
१०.	न्यायरहस्य	रामभद्र
११.	न्यायसिद्धान्तमाला	जयराम
१२.	न्यायसूत्रवृत्ति	विश्वनाथ
१३.	न्यायसंक्षेप	गोविन्द खन्ना

22.4 नव्य न्याय

बारहवीं सदी के आसपास न्यायदर्शन में एक महत्त्वपूर्ण क्रान्ति आयी। इस क्रान्ति को नव्यन्याय नाम से जाना जाता है। प्राचीन न्याय मुख्यतः पदार्थ शास्त्र था, जो पदार्थों की व्याख्या करता था। जब कि नव्यन्याय प्रमाणशास्त्र पर सविशेष बल देता रहा। प्राचीन न्याय में जहाँ उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा का व्यवहार था वहाँ नव्य–न्याय में अवच्छेदक–अवच्छेद्य, निरूपक–निरूप्य, अनुयोगी–प्रतियोगी, विषयता–प्रकारता आदि नूतन शब्दों का प्रयोग होने लगा। परिणामतः न्याय की भाषा अत्यन्त दुरूह व क्लिष्ट होती चली गयी। इसकी उत्पत्ति के विषय में यह धारणा प्रचलित है कि सार्वजनिक वाद–विवाद की कला और पद्धति के अध्ययन से इसकी उत्पत्ति हुई।

नव्य–न्याय को तर्कशास्त्र भी कहा जाता है। इसमें शब्दावली, विषय की सटीकता तथा परिभाषाओं के परिष्कार पर विशेष ध्यान दिया गया। यह विषय के लक्षण को निर्दुष्ट बनाने के लिये अन्तिम सीमा तक जाने का सफल प्रयास करता है। इसमें न्यायवैशेषिक की सामान्य रूपरेखा को स्वीकार तो किया गया, किन्तु विवेचना जटिलता के साथ–साथ विस्तारपूर्ण होती चली गयी है। इसकी भाषा संस्कृत होती हुई भी एक भिन्न ही भाषा प्रतीत होती है जिसका सामान्य संस्कृत से कोई साम्य नहीं है।

22.4.1 नव्यन्याय का उद्‌भव

गङ्गेशोपाध्याय को नव्यन्याय का प्रवर्तक या जनक माना जाता है। गङ्गेशोपाध्याय एक मैथिल विद्वान् थे जिन्होंने सन् 1200 के लगभग तत्त्वचिन्तामणि नामक ग्रन्थ की रचना की। अपने निर्माण काल से ही यह ग्रन्थ मैथिल सम्प्रदाय की शिक्षा का परम लक्ष्य बन गया। केवल इस ग्रन्थ का पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए ही विद्वान् अपने जीवन के 12 वर्ष इसे समझने मात्र के लिये लगा देते थे।

प्राचीन न्याय को ही नए तरीके प्रस्तुत करने के कारण 12 वीं शताब्दी के बाद रचे जाने वाले साहित्य ने नव्य न्याय नामक एक नयी प्रणाली को विकसित किया। बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात्, भारतीय इतिहास के एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ जिसका प्रभाव भारतीय संस्कृति के अन्य भागों की भांति दार्शनिक क्षेत्र पर भी पड़ा और न्याय साहित्य के निर्माण में उसने एक नवीन प्रकार का सूत्रपात किया। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियाँ इस परिवर्तन का संक्रान्ति काल थीं। इस काल में जिन साहित्यों का निर्माण हुआ उनमें रचे जाने वाले न्याय साहित्य की शैली भी बदली हुई थी। बाद में, नव्यन्याय की शब्दावली एवं प्रविधि को किसी भी सूक्ष्म अथवा गम्भीर विचार की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन माना गया तथा व्याकरण, वेदान्त, साहित्य एवं धर्मशास्त्र के साथ–साथ प्रायः सारे परवर्ती दार्शनिकों ने इसे अपनाया।12वीं शताब्दी तक आते आते तो उसमें अत्यधिक परिवर्तन हुआ। इसीलिये इस काल के न्याय साहित्य को नव्य न्याय शब्द से कहा जाता है।

इस नव्य न्याय के युग में जिस साहित्य का निर्माण हुआ उसकी दो प्रमुख विशेषतायें थीं जो उसे प्राचीन न्याय से भिन्न करती थीं। प्राचीन न्याय का सारा साहित्य प्रायः सूत्रों पर आधारित था। उस समय जो ग्रन्थ बने वे या तो साक्षात् गौतम सूत्रों की व्याख्या थे या उनके भाष्यों की टीका आदि के रूप में लिखे गये थे और सूत्रक्रम का अवलम्बन कर उनमें प्रतिपादित पदार्थों को सूत्रकार की भावना के अनुसार समझाने का प्रयत्न करते थे। उदयन की **न्यायकुसुमाञ्जलि** और **आत्मतत्वविवेक** को छोड़कर सबका समावेश सूत्रानुसारी व्याख्या पद्धति के भीतर हो गया। सूत्रों को छोड़कर स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्माण की पद्धति उस समय नहीं थी।

सोलहवीं सदी तक मिथिला में नव्यन्याय का वर्चस्व रहा। लगभग इसी काल में वासुदेव सार्वभौम ने बंगाल के प्रधान विद्यापीठ नवद्वीप में इस ग्रन्थ का प्रचार किया। वासुदेव सार्वभौम मैथिल विद्वान् पक्षधर मिश्र के शिष्य थे। उन्होंने नवद्वीप जाकर इसके पठन–पाठन को प्रचलित किया। प्रसिद्ध विद्वान् पक्षधर मिश्र हुए जिन्होंने तत्त्वचिन्तामणि पर आलोक नामक टीका लिखी। रघुनाथ शिरोमणि की दीधिति नव्यन्याय की सर्वाधिक पठित टीका है। बाद में इस ग्रन्थ का रघुनाथ शिरोमणि आदि नैयायिकों के द्वारा अध्यापन किए जाते हुए सारे बंगाल में भी इसका प्रचार हो गया। इस प्रकार नवद्वीप और मिथिला यह दोनों ही नव्यन्याय के प्रधान केन्द्र बन गये, जहाँ वासुदेव सार्वभौम, गदाधर (गादाधरी), जगदीश, मथुरानाथ प्रभृति नव्य–नैयायिक हुए।

नवद्वीप के बाद धीरे धीरे महाराष्ट्र, मद्रास, काश्मीर आदि स्थलों में प्रचार होते—होते सारे भारत में उसका प्रभाव बढ़ गया।

22.4.2 नव्य न्याय की विशेषता

आज नव्य—न्याय की व्याख्या प्रणाली प्रायः सारे शास्त्रों की पद्धति बन गयी है। अपने सिद्धान्तों की प्रस्तुति के लिये अन्य सारे दार्शनिक सम्प्रदाय भी इसी का अनुसरण करते हैं। न्याय जगत् में इस विधा की क्या विशेषता है, उनको यहाँ इस रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. नव्य न्याय की विशेषताओं में से प्रथम विशेषता यह है कि उसकी प्राचीन सूत्र पद्धति की उपेक्षा करके स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ किया गया। न केवल न्याय में अपितु व्याकरणादि अन्य शास्त्रों में भी जिस साहित्य का निर्माण इस काल में हुआ वहाँ भी यही बात प्रधान रूप से दिखाई देती है। इसी के प्रभाव ने उन शास्त्रों में भी नवीन व्याकरण, प्राचीन व्याकरण, नवीन वेदान्त, प्राचीन वेदान्त आदि भेद कर दिया है।

2. नव्य न्याय पद्धति की दूसरी प्रमुख विशेषता है पदार्थों के स्वरूप एवं महत्व में आपेक्षिक परिवर्तन। न्याय के षोडश पदार्थों में से जिनका महत्त्व प्राचीन पद्धति में अधिक था वह नव्य युग में बहुत कम हो गया है और जिनका महत्त्व कम था उनका बढ़ गया है। उदाहरण के लिये प्राचीन न्याय के सूत्रकार ने सारा पाँचवा अध्याय केवल जाति और निग्रहस्थान इन दो पदार्थों के वर्णन को ही समर्पित कर दिया है, किन्तु नव्य न्याय में उनका उल्लेख केवल नाममात्र को मिलता है। इसके विपरीत अवयव आदि का वर्णन प्राचीन न्याय की अपेक्षा नव्य न्याय में कहीं अधिक पाया जाता है।

3. नव्य न्याय की तीसरी विशेषता है प्रकरण ग्रन्थ।

22.4.3 नव्य न्याय के प्रकरणग्रन्थ

प्रकरण ग्रन्थ एक पारिभाषिक शब्द है जिसका लक्षण इस प्रकार है—

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।

आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥

अर्थात् किसी भी शास्त्र के एक अंश के प्रतिपादक और आवश्यकतानुसार अन्य शास्त्र के उपयोगी अंश को भी प्रतिपादन करने वाले ग्रंथ भेद को प्रकरण ग्रंथ कहते हैं। नव्य न्याय में इस प्रकार के जिन अनेक प्रकरण ग्रंथों का निर्माण हुआ है, उनको हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

क) न्याय के वे प्रकरण ग्रन्थ जो केवल एक प्रमाण पदार्थ का निरूपण करते हैं। और शेष 15 पदार्थों को प्रमाण के भीतर ही अन्तर्भूत कर लेते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में श्री भासर्वज्ञ के न्यायसार का नाम सर्वाधिक उल्लेख योग्य है।

भासर्वज्ञ ने न केवल प्राचीन न्याय पद्धति को परिवर्तित कर दिया है अपितु अनेक सिद्धान्तों को भी परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिये उन्होंने प्रमाण के तीन भेद प्रत्यक्ष अनुमान और आगम किये हैं। जब कि न्यायशास्त्रों में इनके अतिरिक्त 'उपमान' प्रमाण भी माना गया है।

ख) दूसरे प्रकार के 'प्रकरण ग्रन्थ' वे हैं जो मुख्यतः न्याय के ग्रन्थ होते हुए भी वैशेषिक दर्शन के पदार्थों का भी समावेश कर लेते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में 'श्रीवरदराज' की तार्किकरक्षा, तथा केशवमिश्र की तर्कभाषा विशेष उल्लेख्य हैं। इन दोनों ग्रन्थों में न्याय के षोडश पदार्थों का वर्णन किया गया है और दोनों ने वैशेषिक के द्रव्यादि षट् पदार्थों का अन्तर्भाव प्रमेय में ही कर लिया है।

ग) तीसरे प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ वे हैं जो मुख्यतः वैशेषिक के ग्रन्थ हैं परन्तु न्यायदर्शन के प्रमाण पदार्थ का पूर्णरूप से उनमें समावेश कर दिया गया है। इनमें से कुछ में प्रमाण का अन्तर्भाव वैशेषिक के गुणप्रकरण में किया गया है और कुछ में आत्मप्रकरण में जो कि द्रव्य का एक भेद है। न्याय और वैशेषिक के पदार्थों को इस प्रकार मिलाकर प्रतिपादन करने की शैली भी श्री उदयन के बाद विशेष रूप से प्रचलित हुई। उदयन ने अपनी लक्षणावली में वैशेषिक दर्शन के अभाव सहित सात पदार्थों का वर्णन किया है। परन्तु उनमें न्याय के प्रमाण पदार्थ का निरूपण नहीं है। उससे पूर्व केवल प्रशस्तपादभाष्य में ही प्रमाण का भी समावेश हुआ है। इस प्रकार के ग्रन्थों में वल्लभाचार्य की न्यायलीलावती, अन्नम्भट्ट का तर्कसंग्रह, विश्वनाथ न्यायपञ्चानन का भाषापरिच्छेद, लौगाक्षि – भास्कर की तर्ककौमुदी के नाम लिए जा सकते हैं।

घ) चौथे प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ वे हैं जिनमें कुछ न्याय और कुछ वैशेषिक के पदार्थों का निरूपण है जैसे शशधर का न्यायसिद्धान्तदीप।

22.4.4 नव्य न्याय के साहित्य

नव्यन्याय की साहित्य परम्परा में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान गङ्गेशोपाध्याय के तत्वचिन्तामणि नामक ग्रन्थ का है। इनका यह ग्रन्थ इस नव्य परम्परा का गौरवग्रन्थ है ही, इसे ही वस्तुतः नव्यन्याय का आधारभूत ग्रन्थ भी माना जाता है। इस ग्रन्थ ने न्यायशास्त्र के इतिहास में वस्तुतः एक नवीन युग की सृष्टि की है। एक पीढ़ी पूर्व तक **तत्त्वचिन्तामणि** या उसके किसी एक खण्ड को पढ़े बिना दार्शनिक पाण्डित्य प्राप्त करना असम्भव समझा जाता था।

इस ग्रन्थ में कुल चार खण्ड हैं जिनमें प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों का विवेचन क्रमशः एक–एक खण्ड में किया गया है। यह ग्रन्थ इस पद्धति से लिखा गया है कि उसका हिन्दी में अनुवाद कर सकना सर्वथा असम्भव है। संसार के सारे दार्शनिक ग्रन्थों में जितनी टीकाएँ इस ग्रन्थ की हुई हैं उतनी किसी दूसरे ग्रन्थ की नहीं। श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण के लेखानुसार मूल ग्रन्थ लगभग तीन सौ पृष्ठ का है और उस पर जो टीकाएँ लिखी गई हैं उनकी सम्मिलित पृष्ठ संख्या लगभग दस लाख से ऊपर है। इतनी अधिक टीकाएँ विश्वसाहित्य के विरले ग्रन्थ पर ही मिल सकेंगी। इससे इस नव्यन्याय के ग्रन्थ का महत्त्व और काठिन्य का कुछ आभास मिल सकेगा।

22.5 सारांश

उद्देश, लक्षण एवं परीक्षारूप अपनी विशिष्ट शैली से भारतीय दर्शन समस्त वादों का तार्किक व सोदाहरण समन्वय प्रस्तुत करता है। द्वैतवाद–अद्वैतवाद, एकतत्त्ववाद–बहुतत्त्ववाद, बाह्यार्थवाद–विज्ञानवाद, प्रतिनिविष्टवाद–सामंजस्यवाद आदि समस्त विचारसरणियों का व्याख्यायित सिद्धान्त ही समग्र रूप में दर्शन है। कालान्तर में यह दर्शन एक विचारसरणि मात्र न रहकर जीवन प्रणाली बन गया। भले ही विश्व

में भारतीय दर्शन को अध्यात्मपरक कहा जाता हो किन्तु विषय प्रतिपादन की इसकी सूक्ष्म शैली का कोई पर्याय नहीं है।

22.6 बोध–प्रश्न

22.7.1 अतिलघूत्तरीय

1. न्याय दर्शन के प्रवर्तक आचार्य का नाम लिखें।
2. नव्य न्याय के आधारभूत ग्रन्थ का नाम लिखें।
3. पक्षिलस्वामी किस आचार्य का अन्य नाम है?
4. सिद्धान्तमुक्तावली किस ग्रन्थ की टीका है?

22.7.2 लघूत्तरीय

1. न्याय दर्शन के किन्हीं चार नामों का उल्लेख करें।
2. प्राचीन न्याय के दो प्रमुख आचार्यों के अवदान को स्पष्ट करें।
3. तत्त्वचिन्तामणि की विशेषताओं को चिह्नित करें।
4. न्याय दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य क्या है?
5. न्याय शब्द के अर्थ को स्पष्ट करें।

22.7.3 दीर्घोत्तरीय

1. न्याय दर्शन के उद्‌भव एवं विकास पर एक विस्तृत निबन्ध लिखें।
2. प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय के प्रमुख भेदों को सोदाहरण स्पष्ट करें।
3. न्याय दर्शन के साहित्य की सूची देते हुए उनका संक्षिप्त परिचय दें।

22.7.4 अतिलघूत्तरीय प्रश्नों के उत्तर

1. आचार्य गौतम, 2. तत्त्वचिन्तामणि, 3. वात्स्यायन,

4. कारिकावलीभाषापरिच्छेद

22.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. उपाध्याय, बलदेव, **भारतीय दर्शन**, चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, 1967
2. चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद, **भारतीय दर्शन सरल परिचय** राजकमल प्रकाशन, 1965
3. झलकीकर, न्यायकोश, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, 1997
4. झा, डॉ० वीणा, शङ्कर का अद्वैत वेदान्त, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना
5. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ, भारतीय दर्शन का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 1988
6. द्विवेदी, डॉ० पारसनाथ, भारतीय दर्शन, श्रीराम मेहर एण्ड कम्पनी, पुस्तक प्रकाशक, आगरा
7. बन्दिष्टे, डॉ० डी०डी०, भारतीय दार्शनिक निबन्ध, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1983

8. भट्टाचार्य, डॉ० अभेदानन्द, शांकर वेदान्त, दुर्गा पब्लिकेशन, 1991

9. भारतीय, महेश, भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ इण्डो–विजन प्रा. लि. गाजियाबाद, 1999

10. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार, प्रमाणमञ्जरी Vidyanidhi Prakashan, Khajoori khas, Delhi – 110090, 2018

11. मिश्र, नयराम, आदि शङ्कराचार्य जीवन और दर्शन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984

12. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार, तर्कसंग्रह तर्कदीपिकासहित तन्वी व्याख्या Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 2013

13. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार, वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 1998

14. मिश्र, प्रो० हृदय नारायण, अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक विवेचन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2011

24ए 15. शर्मा, डॉ० ऊर्मिला, अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान छन्दस्वती प्रतिष्ठान वाराणसी, 1978

1. शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, 1990

2. शर्मा, राममूर्ति, भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा, मणिद्वीप दिल्ली, 1999

3. शास्त्री, द्वारिकदास, न्यायदर्शनम् वात्स्यायनभाष्यसहित, बौद्ध ग्रन्थमाला 11, बौद्धभारती वाराणसी, 1984

4. शास्त्री, द्वारिकदास, न्यायभाष्य, सुधी न्थमाला 10, सुधी प्रकाशन 1986

5. शास्त्री, रामानन्द तिवारी, भारतीय दर्शन की भूमिका, नवयुग प्रेस, भरतपुर, 1958

6. शुक्ल, डॉ. दीनानाथ, भारतीयदर्शन परिभाषा कोश, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली। प्रथम संस्करण, 1983

7. सरस्वती, श्रीहरिहरानन्द, वेदान्त विचार, नारदघाट, वाराणसी

8. Chattopadyaya, D. P., Indian Philosophy New Delhi, 1964

25. Mishra, Pankaj Kumar, **THE TARKABHASHA** of Keshav Mishra Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 2005

26. Dasgupta, S. N. **A History of India Philosophy**, M.L. B.D., Delhi, 1940

27. Radhakrishna S., **Indian Philosophy** (Voll-II) Allen and Unwin 1927

इकाई 23 षोडशपदार्थोद्देशः (1.1.1-1.1.2)

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 पदार्थ

23.3 उद्देश

23.4 षोडश पदार्थ (1.1.1)

- 23.4.1 प्रमाण
- 23.4.2 प्रमेय
- 23.4.3 संशय
- 23.4.4 प्रयोजन
- 23.4.5 दृष्टान्त
- 23.4.6 सिद्धान्त
- 23.4.7 अवयव
- 23.4.8 तर्क
- 23.4.9 निर्णय
- 23.4.10 वाद
- 23.4.11 जल्प
- 23.4.12 वितण्डा
- 23.4.13 हेत्वाभास
- 23.4.14 छल
- 23.4.15 जाति
- 23.4.16 निग्रहस्थान

23.5 द्वितीय सूत्र (1.1.2)

23.6 सारांश

23.7 शब्दावली

23.8 बोध-प्रश्न

- 23.8.1 अतिलघूत्तरीय
- 23.8.2 लघूत्तरीय
- 23.8.3 दीर्घोत्तरीय
- 23.8.4 अतिलघूत्तरीय प्रश्नों के उत्तर

23.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

23.0 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से आप जान पाएंगे कि-

- न्याय दर्शन में पदार्थों की अवधारणा क्या है?
- न्याय दर्शन में कितने पदार्थ हैं?
- इन पदार्थों का स्वरूप क्या है?
- न्याय दर्शन में इन पदार्थों से कौन सा प्रयोजन सिद्ध होता है?
- मोक्ष की अवधारणा क्या है?

23.1 प्रस्तावना

न्यायदर्शन का आधारभूत ग्रन्थ न्यायसूत्र है। इसके प्रथम सूत्र में षोडश पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के द्वारा ही परम सिद्धि का निर्देश है। अन्य दर्शनों के प्रतिपाद्य की तरह ही न्याय का भी परम लक्ष्य मोक्ष ही है। चूँकि न्याय अपने कथ्य की सिद्धि तर्क के द्वारा करता है इसलिए इसमें प्रमाणों का महत्त्व सर्वाधिक है। न्यायदर्शन अपनी प्रमाणमीमांसा के कारण जाना जाता है।बल्कि न्याय का लक्षण करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा भी है कि **प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय:** अर्थात् प्रमाणों के द्वारा विषयों का परीक्षण ही न्याय है। समग्र वैश्विक व्यवस्था का विश्लेषण यह प्रमाणों के द्वारा ही करता है। इसके अतिरिक्त अन्य पञ्चदश पदार्थों के माध्यम से विश्व की समस्त व्यवस्था की व्याख्या करता है।

इस पाठ में न्याय के पदार्थों का वर्गीकरण तथा इनके लक्षण एवं स्वरोप को समझने का प्रयास किया जाएगा।

23.2 पदार्थ

वैशेषिक एवं जैन दर्शन विशेषत: पदार्थ की व्याख्या के कारण जाने जाते हैं। न्याय-दर्शन में पदार्थों का यद्यपि वर्गीकरण प्राप्त होता है किन्तु पदार्थ के लक्षण में नैयायिकों की रुचि नहीं देखी जाती। बल्कि पदार्थ के विशिष्ट लक्षण वैशेषिकाचार्यों ने ही दिया, तदनुसार- **षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि** अर्थात् पदार्थ वह है जिसका अस्तित्व हो, नाम हो तथा जो ज्ञेय हो। साथ ही जो प्रमिति के विषय हों वे पदार्थ हैं- **प्रमितिविषया: पदार्था:**। किन्तु सामान्यतया पदार्थ वह है जिसे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जाये। इस प्रकार कोई भी इन्द्रियग्राह्य विषय पदार्थ कहलाता है।

23.3 उद्देश

इस पाठ के शीर्षक में उद्देश शब्द आया है इसलिए पुनरावृत्तिमात्र के लिये इसका उल्लेख किया जा रहा है क्योंकि इससे पूर्व के पाठ में इसकी विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। तदनुसार विवेच्य विषय का परिगणन किया जाना उद्देश है। न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में ही आचार्य गौतम ने न्याय दर्शन के प्रारम्भ में ही प्रतिपाद्य का परिगणन कर दिया है। भले ही वहाँ उसे हम षोडश पदार्थ के रूप में जानते हैं किन्तु एक पृथक् दृष्टि से यह न्याय की विषय वस्तु भी है। और विषयों को गिनाना ही उद्देश है। यह उद्देश आज शोध प्रविधि का प्रारम्भिक विषय है।

23.4 षोडश पदार्थ (1.1.1)

न्यायसूत्र का आरम्भ इस वाक्य से होता है कि सोलह पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति की जा सकती है। ये पदार्थ हैं- प्रमाण,प्रमेय,संशय, प्रयोजन,दृष्टांत, सिद्धांत,अवयव, तर्क,निर्णय,बाद,जल्प,वितण्डा,हेत्वाभास,छल,जाति और निग्रहस्थान। वह विशिष्ट क्रम जिसके द्वारा सम्यक् ज्ञान अन्ततः मोक्ष तक ते जाता है, इन पदार्थों का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है-

23.4.1 प्रमाण

यह न्याय के षोडश पदार्थों में प्रथम है। प्रमाण न्याय का मुख्य विषय है। प्रमाणों का विश्लेषण करने के कारण ही इसे प्रमाणशास्त्र भी कहा जाता है।

जो सत्य ज्ञान प्राप्त करने में सहायता करे वह सामान्यतया प्रमाण कहलाता है। अर्थात् वह साधन या प्रक्रिया जिससे किसी विषय का यथार्थ ज्ञान हो, प्रमाण है। यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं। उस यथार्थ ज्ञान का जो करण हो अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान हो,उसे प्रमाण कहते हैं। न्यायदर्शन में **प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द**-ये चार प्रमाण माने गए हैं। इन प्रमाणों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-**प्रत्यक्ष**-प्रत्यक्ष शब्द से तीन अर्थों का बोध होता है- इन्द्रिय,तज्जन्य ज्ञान और उनके विषय।

इन्द्रिय से प्राप्त होने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण की संख्या छ: होने से उनसे उत्पन्न ज्ञान छ: प्रकार के होते हैं- घ्राणज,रासन,चाक्षुष,त्वाच,श्रावण और मानस। इन प्रत्यक्ष ज्ञानों में प्रत्येक के दो भेद होते हैं- निर्विकल्पक और सविकल्पक।

निर्विकल्पक- विशेषण अथवा गुणरहित ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं- **निष्प्रकारकं ज्ञानम्**। इस प्रत्यक्ष में वस्तु के स्वरूप मात्र का भान होता है,उसकी विषयभूत,में परस्पर सम्बन्ध का भान नहीं होता।

सविकल्पक - यह प्रत्यक्ष विशिष्टग्राही अर्थात् गुण, जाति प्रभृति विशेषणों को ग्रहण करने वाला होता है। **सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्** कहकर ही लक्षण किया जाता है। यह निर्विकल्पक से उत्पन्न होता है और मन से इसका प्रत्यक्ष बोध होता है। इसके प्रत्यक्ष को अनुव्यवसाय शब्द से व्यवहृत किया जाता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं- लौकिक और अलौकिक।

अनुमान

अनुमान नैयायिकों का सर्वाधिक व्याख्यायित प्रमाण है।न्याय दर्शन की प्रतिष्ठा इसी प्रमाण के विवेचन एवं विश्लेषण से है। इससे उन सारे पदार्थों का ज्ञान होता है जो इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात होने की योग्यता रखते हुए भी प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण इन्द्रिय से ज्ञात नहीं होते। इसमें इन्द्रिय से ज्ञात होने की योग्यता ही नहीं होती। इस प्रमाण के दो भेद होते हैं- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जिस अनुमान से अपने संशय का निराकरण या अपने आप को साध्य का निश्चय होता है,उसे **स्वार्थानुमान** कहते हैं तथा जिस अनुमान से अन्य व्यक्ति- जिज्ञासु,प्रतिवादी या मध्यस्थ- के संशय का निराकरण या साध्य का निश्चय होता है,उसे **परार्थानुमान** कहा जाता है। परार्थानुमान के पाँच अवयव माने गए हैं- **प्रतिज्ञा,हेतु,उदाहरण,उपनय** और **निगमन**।

जिस वाक्य से पक्ष के साथ साध्य के सम्बन्ध का ज्ञान हो उसे प्रतिज्ञा कहते हैं।जिस वाक्य से हेतु में साध्य की ज्ञापकता अवगत हो उसे हेतु,जिस वाक्य से हेतु में साध्य की व्याप्ति बताई जाए उसे उदाहरण,जिस वाक्य से पक्ष में साध्यवाक्य हेतु का सम्बन्ध बोधित हो उसे उपनय और जिस वाक्य के हेतु का अबाधितत्व एवं असत्प्रतिपक्षितत्व बताते हुए हेतु के सामर्थ्य से पक्ष में साध्य के संबंध का उपसंहार किया जाए उसे निगमन कहा जाता है।

उपमान

एक पदार्थ में अन्य पदार्थ के सादृश्यज्ञान को उपमान प्रमाण कहा जाता है। इस ज्ञान की एक प्रक्रिया होती है जो इस प्रकार है-

जब कोई अरण्यवासी किसी भिन्न प्रदेश के व्यक्ति को यह बताता है कि जंगल में गौ के सदृश गवय (नीलगाय) नाम का एक पशु होता है, तो वह उस जंगल में गौ के सदृश जिस पशु को देखता है उसे अरण्यवासी की बात का स्मरण होता है और उसे फलस्वरूप उस पशु में उसे गवय का निश्चय हो जाता है। इस प्रकार गवय में गोसादृश्य का दर्शन,अरण्यवासी के द्वारा उपदिष्ट अर्थ का स्मरण, उसका व्यापार तथा गवय में गवय शब्द की शक्ति का निश्चय- इन सबको उपमिति नामक फल कहा जाता है।

शब्द

जिसमें पदार्थ के शक्ति या लक्षण संबंध के ज्ञान से पदार्थ का स्मरण होकर पदार्थ का अनुभव होता है,उसे शब्द प्रमाण कहा जाता है। घट शब्द में घटपदार्थ के शक्ति संबंध के ज्ञान से घट का स्मरण होकर घट का अनुभव होने से घटरूप अर्थ में घट शब्द प्रमाण है। सरल शब्दों में किसी आप्त पुरुष का कथं शब्द प्रमाण है- **आप्तवाक्यं शब्द:**।

शब्द प्रमाण के दो भेद हैं- लौकिक और वैदिक। इनमें लौकिक को अन्य लौकिक प्रमाणों के संवाद से ही प्रमाण माना जाता है,पर वैदिक (वेद) को किसी लौकिक प्रमाण के संवाद के बिना भी प्रमाण माना जाता है।

शब्द प्रमाण से होने वाले अनुभव को शब्दबोध कहा जाता है। वह पदज्ञान,पद-पदार्थ सम्बन्ध ज्ञान,पदार्थ स्मरण आकांक्षाज्ञान,आसक्ति या आसक्तिज्ञान,योग्यताज्ञान या अयोग्यता निश्चय का अभाव,तात्पर्यज्ञान या तात्पर्यज्ञापक प्रकरण इन सात कारणों से उत्पन्न होता है।

23.4.2 प्रमेय

न्याय दर्शन में प्रमाण के अनन्तर प्रमेय का उल्लेख हुआ है। प्रथम सूत्र में उल्लिखित तत्त्वज्ञान से प्रमिति अभिप्रेत है,जिसकी उत्पत्ति में इसके विषय अपेक्षित होते जो प्रमेय कहलाते हैं। मुमुक्षुओं के लिए इस प्रमेय पदार्थ का ज्ञान आवश्यक है। प्रमेय का शाब्दिक अर्थ है,प्रकृष्ट-सर्वश्रेष्ठ,मेय-ज्ञेय अर्थात् ऐसा वस्तुमात्र,जो प्रमाण से सिद्ध किया जाता है,प्रमेय होता है। प्रमेय के साधक प्रत्यक्ष आदि प्रमाण हैं,किन्तु उनमें यदि प्रामाण्य सन्दिग्ध हो जाए तो प्रमाणान्तर से उसकी प्रामाण्यसिद्धि के समय वह प्रमाण भी प्रमेय हो जाता है।

न्याय दर्शन में प्रमेय को दूसरा पदार्थ मन गया है। वैशेषिकाचार्यों के अनुसार वैशेषिक के सारे सात पदार्थों में ही इन प्रमेयों का अन्तर्भाव हो जाता है।

नैयायिकों के अनुसार जो प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान का विषय होता है,वह प्रमेय कहलाता है-

प्रमाविषयत्वं प्रमेयत्वम्। इस प्रकार घट,पट आदि सभी पदार्थ प्रमेय हैं।प्रमेय का लक्षण करते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि **योऽर्थः तत्त्वतः प्रमीयते तत्प्रमेयम्** अर्थात् जिस वस्तु को तत्त्व से जाना जाता है,वह प्रमेय है।

गौतम ने अपने न्यायसूत्र में बारह प्रकार के प्रमेयों का निर्देश किया है- **आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यमावफलदुःखापवर्गा इति द्वादशविधं प्रमेयम्**। (1.1.2)। ये हैं-

1) आत्मा (Soul)
2) शरीर (Body)
3) इन्द्रिय (Sense-organ)
4) अर्थ (Sense-object)
5) बुद्धि (Knowledge)
6) मन (Mind)
7) प्रवृत्ति (Effort)
8) दोष (Spring of Action)
9) प्रेत्यभाव (Post-mortem existence)
10) फल (Fruit of Action)
11) दुःख (Misery)
12) अपवर्ग (Liberation)

यहाँ इन प्रमेयों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

1) **आत्मा**- न्यायसूत्र के तृतीय अध्याय में आचार्य गौतम ने आत्मा का सविस्तर निरूपण किया है।

तर्कसङ्ग्रह के अनुसार ज्ञानाधिकरणम् आत्मा अर्थात् ज्ञान का आश्रय आत्मा है। नैयायिक बुद्धि वा ज्ञान को अनित्य मानते हैं। बुद्धि आत्मा का गुण है। यह शरीर,इन्द्रिय,मन और बुद्धि इन सबसे पृथक् है- शरीरेन्द्रियबुद्धिभ्यः पृथगात्मा विभुर्ध्रुवः। किन्तु यह आत्मा सर्वद्रष्टा,सर्वभोक्ता और सर्वानुभवी है। यही आत्मा सभी इन्द्रियों का उपयोग करनेवाला है। मन इसका संवादवाहक मात्र है।

नैयायिक आत्मा के दो भेद मानते हैं- जीवात्मा तथा परमात्मा। इनमें जीवात्मा अनेक तथा प्रतिशरीर भिन्न है। परमात्मा एक है तथा यह सर्वज्ञ है। यह सर्वज्ञ परमात्मा ही ईश्वर है।

2) **शरीर**- शरीर का सामान्य अर्थ है शीर्यते (प्रतिक्षणम्) इति शरीरम्।जो सदैव क्षीण होते रहता हो,उसी का नाम शरीर है। यह शरीर ही सारी चेष्टाओं का आश्रय है,सभी इन्द्रियों का आधार-स्थल और समस्त विषय भोगों का केन्द्र है। अतः गौतम का सूत्र है- **चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्**। (न्या० सू० 1.1.11)

वात्स्यायन के अनुसार शरीर ही आत्मा के भोग का आयतन वा आश्रय है- आत्मनो

भोगायतनं शरीरम्। विना शरीर के आत्मा को विषयोपभोग नहीं हो सकता। इसलिये शरीर को **भोगायतन** कहा जाता है।

शरीर दो प्रकार का माना गया है– योनिज और अयोनिज। शुक्र, शोणितादि के संयोग से उत्पन्न शरीर योनिज और उससे भिन्न शरीर अयोनिज कहलाता है। पशु-पक्षी मनुष्यादि के शरीर योनिज, और तेजस, वायव्य आदि शरीर अयोनिज है।

3) **इन्द्रिय**- विषय का ग्रहण वा उपभोग करने में इन्द्रियाँ ही साधन हैं। अतः वात्स्यायन कहते हैं, भोगसाधनानि इन्द्रियाणि। शरीर के जिन अवयवों के द्वारा विषय का ग्रहण होता है, वे इन्द्रिय कहलाते हैं। तर्ककौमुदी में इन्द्रिय की यह परिभाषा दी गई है- शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियम्।

इन्द्रियों का स्वभाव है कि वे जिस विषय के साथ सम्बद्ध होती हैं,उसका प्रकाशन करती है,किन्तु वे स्वतः प्रकाश्य नहीं होतीं। नेत्रेन्द्रिय के द्वारा हम सब कुछ देख सकते हैं,किन्तु स्वतः नेत्रन्द्रिय को नहीं देख सकते। इन्द्रियाँ स्वयं अतीन्द्रिय कही जाती है। ये इन्द्रियाँ पाँच हैं- घ्राण (नाक),रसना (जीभ) चक्षु और त्वक्। ये इन्द्रियाँ बाह्य विषयों का ग्रहण करने के कारण बाह्येन्द्रिय कहलाती है। इसके अतिरिक्त आभ्यन्तरिक सुख-दुःखादि का अनुभव करने वाला मन होता है,जो अन्तरिन्द्रिय समझा जाता है। कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं- पाणि, पाद, वाक्, पायु (मलद्वार) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)। इस प्रकार न्यायदर्शन में मन के साथ-साथ पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय को मिलाकर एकादश इन्द्रियों की अवधारणा है।

4) **अर्थ**- इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का ग्रहण होता है,वह अर्थ कहलाता है। जैसे-पार्थिव द्रव्यों के गुण हैं गन्ध,रस,रूप और स्पर्श। ये इन्द्रियों के विषय होने के कारण अर्थ हैं। एक इन्द्रिय से एक ही अर्थ ग्रहण होता है।

5) **बुद्धि**- बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान और प्रत्यय ये सब पर्यायवाचक हैं। इन शब्दों का प्रयोग न्यायशास्त्र में अधिक स्थलों पर प्राप्त होता है। जिसके द्वारा आत्मा को किसी वस्तु का बोध हो,वही बुद्धि है। बुद्धि आत्मा का विशिष्ट गुण है। इसे आत्मा का प्रकाश भी कहा जाता है। यह आत्मा का वह प्रकाश है जिसके द्वारा सभी पदार्थ वा विषय आलोकित होते हैं। तर्क सङ्ग्रह में बुद्धि को समस्त व्यवहारों का हेतु कहा गया है- **सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानम्**। यहाँ बुद्धि के लिये ज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है।

नैयायिक बुद्धि को दो प्रकार का मानते हैं-नित्या और अनित्या। नित्या बुद्धि परमात्मा की और अनित्या बुद्धि जीवात्मा की होती है। जीवात्मा की अनित्या बुद्धि भी दो प्रकार की होती है- स्मृति और अनुभव। फिर प्रत्येक के दो विभाग होते हैं- यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ अनुभव को प्रमा और अयथार्थ अनुभव को अप्रमा कहते हैं। प्रमा के चार भेद हैं- प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दबोध। अप्रमा वा भ्रम के भी मुख्यतः दो भेद माने गये हैं- संशय और विपर्यय(मिथ्याज्ञान)।

6) **मन**- जिसके द्वारा मनन किया जाये, वह मन कहलाता है। मन ही सभी इन्द्रियों का प्रवर्त्तक है- मन्यते अनेन इति मनः। चक्षु आदि बाह्येन्द्रियाँ जो विषय ग्रहण करती हैं, उसे मन ही आत्मा के पास पहुँचाता है। अभ्यन्तरिक सुख दुःख आदि का अनुभव साक्षात् मन के द्वारा ही होता है। मन आभ्यन्तरिक इन्द्रिय का भी काम करता है और साथ-ही-

साथ बाह्येन्द्रियानुग्राहक का भी। अतः मन समस्त ज्ञान का कारण स्वरूप है।

'मैं सुखी हूँ' अथवा दुःखी हूँ- ऐसा अनुभव कराने वाला कारण मन ही है। इसलिये तर्कसंग्रहकार मनकी यह परिभाषा देते हैं- **सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः**। विश्वनाथ पंचानन कहते हैं- **साक्षात्कारे सुखादीनांकरणं मन उच्यते**।

7) **प्रवृत्ति**-प्रवृत्ति का अर्थ है किसी कार्य को करने की इच्छा से तदनुकूल व्यापार करना- **चिकीर्षाजन्यो यत्नः** (प्रवृत्तिः)।

किसी कार्य में प्रवृत्ति इस प्रकार होती है। पहले तत्कार्य प्रयुक्त फल का ज्ञान होता है। फिर फल की इच्छा होती है। तब अभीष्ट-सिद्धि के साधन या उपाय का ज्ञान होता है। फिर उस उपाय को काम में लाने की इच्छा होती है। तब उस कार्य की ओर प्रवृत्ति होती है। तर्कसङ्ग्रहकार के अनुसार यह प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है- धर्म और अधर्म- **धर्माधर्मौ प्रवृत्तिः**। परित्राण (रक्षा),परिचरण (सेवा), दान, दया,स्पृहा,श्रद्धा, सत्य,हित,प्रिय तथा स्वाध्याय इन दस प्रवृत्तियों से धर्म होता है। अतः ये **पुण्या** कहलाती हैं।इनसे प्रतिकूल कार्यों की ओर प्रवृत्ति को **पापा** कहते हैं।

8) **दोष**–जिस किसी भी कारण से किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है,उसे दोष कहते हैं- **प्रवर्त्तनालक्षणाः दोषाः**न्या० सू० 1.1.18. तर्कदीपिका में अन्नम्भट्ट ने तीन प्रकार के दोषों का उल्लेख किया है- **रागद्वेषमोहा दोषाः**। दोष तीन प्रकार के है- राग, द्वेष और मोह।

राग- जिसके द्वारा किसी विषय में आसक्ति होती है, उसे राग कहते हैं- **आसक्तिलक्षणो दोषः (रागः)**। अन्यत्र इच्छा को भी राग कहा गया है- **राग इच्छा**। काम,मत्सर,स्पृहा,तृष्णा,लोभ, माया,और दम्भ,ये राग के प्रभेद है।

द्वेष- जिसके द्वारा किसी विषय से विरक्ति होती है,उसे द्वेषकहते हैं- **अमर्षलक्षणो दोषः** (द्वेषः)। क्रोध,ईर्ष्या,असूया,द्रोह,अमर्ष और अभिमान,ये द्वेष के प्रभेद हैं- **मोह**- जिसके द्वारा किसी विषय के सम्बन्ध में भ्रान्ति होती है, उसे मोह कहते हैं- **मोहः शरीरादावात्मभ्रमः**। अन्यत्र **मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणो दोषः** को भी मोह का लक्षण कहा गया। विपर्यय,संशय,तर्क,मान,प्रसाद,भय और शोक,ये मोह के प्रभेद हैं।

9) **प्रेत्यभाव**- प्रेत्यभाव का अर्थ है **मृत्वा भावो जननं प्रेत्यभावः**- विश्वनाथवृत्ति अर्थात् मृत्यु के उपरान्त पुनः जन्म होना ही प्रेत्यभाव कहलाता है-**मरणोत्तरं जन्म प्रेत्यभावः**(तर्कदीपिका)। गौतम कहते हैं पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः-न्या० सू० 1.1.16। मृत्यु के अनन्तर पुनः उत्पन्न होना अर्थात शरीरान्तर और उसके साथ-साथ इन्द्रिय.मन,बुद्धि और संस्कारों से युक्त होना ही प्रेत्यभाव है।

10) **फल**-किसी कर्म का जो अन्तिम परिणाम होता है,वह फल कहलाता है। गौतम कहते हैं- **प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्।** न्यायमतानुसार फल दो प्रकार का है- मुख्य और गौण। मुख्य फल है सुख वा दुःख का उपभोग- **सुखदुःखसंवेदनं फलम्**। इसके अतिरिक्त अन्यान्य फलों को गौण समझना चाहिये। यथा यज्ञ से कर्मजन्य सुख का प्राप्त होता मुख्य फल और वर्षा आदि का होना गौण फल है।

11) **दुःख**– जिससे कष्ट या पीड़ा का अनुभव हो, वह दुःख कहलाता है। गौतम ने दुःख का

लक्षण देते हुए कहा है कि **बाधनालक्षणं दुःखम्**(न्या० सू०1.1.21) इस प्रकार जिसकी कोई इच्छा नहीं करे तथा जो प्रतिकूल प्रतीत हो,वही दुःख है। सूत्र के ऊपर भाष्य के क्रम में वात्स्यायन ने दुःख की परिभाषा इस प्रकार की है- **प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्**। भाषापरिच्छेद में भी दुःख का लक्षण इसी प्रकार प्राप्त होता है- **अधर्मजन्यं सचेतसां प्रतिकूलम्**।

इस प्रकार दुःख के लक्षण में दो प्रधान भाव देखे जा सकते हैं- बाधनात्मकत्व और प्रतिकूल वेदनीयत्व।

दुःख तीन प्रकार के माने गये हैं-

आध्यात्मिक- जैसे, शारीरिक रोग और मानसिक शोक।

आधिभौतिक- जैसे, सर्प व्याघ्रादि का उत्पात।

आधिदैविक- जैसे, भूतप्रेतादिजनित बाधा।

12) **अपवर्ग**—सभी प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही अपवर्ग है। इसे ही मोक्ष भी कहा जाता है। गौतम के अनुसार- दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

(अपवर्ग का विस्तृत वर्णन इसी पाठ में किया जाएगा।)

23.4.3 संशय

ऐसी अवस्था जिसमें मन दो वस्तुओं के मध्य अनिश्चय की स्थिति में राहत है, संशय कहलाता है। इसे इस प्रकार समझ जा सकता है कि कोई व्यक्ति किसी उद्यान में टहल रहे हैं। उस व्यक्ति को कुछ दूर पर मनुष्य जैसा कोई पदार्थ दिखता है। वह वस्तु क्या है इसका निश्चयात्मक ज्ञान उसे नहीं है। वह सोचता है कि हो सकता है,वह मनुष्य हो या स्थाणु(सूखा पेड़) हो। यहाँ मनुष्यत्व और स्थाणुत्व ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं जो एक साथ उस पदार्थ (धर्मी) में नहीं रह सकते। या तो यह होगा या वह। किन्तु इन दोनों कोटियों में कौन सत्य है और कौन असत्य,इसका ज्ञान उपलब्ध नहीं है यही संशय की अवस्था है। इस अवस्था में मन एक ही धर्मी (पदार्थ) में अनेक विरुद्धकोटिक धर्म को आरोपित करता है। इस दृष्टि से संशय की परिभाषा **इस प्रकार की जाती है- एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोटिकं ज्ञानंसंशयः।**संशयावस्था में किसी कोटि का निश्चय नहीं हो पाता। अतएव सर्वदर्शनसंग्रहकार कहते हैं कि **अनवधारणात्मकं ज्ञानं संशयः**।

23.4.4 प्रयोजन

गौतम ने प्रयोजन का उल्लेख पदार्थों के अन्तर्गत प्रयोजन किया है। तदनुसार जिस अर्थ अथवा विषय के करण किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है, उसे प्रयोज कहते हैं। गौतम कहते हैं- **यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम्**।यह लोक प्रसिद्ध कथन है कि बिना प्रयोजन के किसी कार्य में मूर्ख की भी प्रवृत्ति नहीं होती- **प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते**।

23.4.5 दृष्टान्त

न्याय के इस पदार्थ को को इस प्रकार समझ जा सकता है- **दृष्टोऽन्तो निश्चयो येन स दृष्टान्तः** अर्थात् जिसको देखने से किसी बात का निश्चय हो जाय, उसे दृष्टान्त कहते हैं। गौतम के

अनुसार **लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः** अर्थात् जिस विषय में लौकिक और परीक्षक दोनों की बुद्धि अर्थात् निष्कर्ष एक समान हो, वह दृष्टान्त कहलाता है।

लौकिक व्यक्ति साधारण बुद्धि के अनुसार विषय को जैसा देखता है, वैसा ही मान लेता है। किन्तु परीक्षक तर्क, प्रमाणादि के द्वारा उसी विषय का परीक्षण कर के तत्त्वों का निर्धारण करता है। इस प्रकार लौकिक और परीक्षक के दृष्टिकोण पृथक् होते हैं। फिर भी उसे मानते दोनों ही हैं।

23.4.6 सिद्धान्त

जिसके द्वारा किसी विवादास्पद विषय का समाधान निकाल आए अथवा विवाद का समापन हो जाय, इसी का नाम है सिद्धान्त- **सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्तः**।

सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि कोई विषय प्रमाण के द्वारा सिद्ध या स्थापित हो जाने पर सिद्धान्त कहलाता है। गौतम के अनुसार- **तन्त्राधिकरणाभ्युपगमस्थितिः सिद्धान्तः**अर्थात् तन्त्र,अधिकरण या अभ्युपगम के सहारे ही सिद्धान्त स्थापित होता है। तर्कदीपिका में इसको इस प्रकार समझाया गया है- **प्रामाणिकत्वेणाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः**। ये सिद्धान्त चार प्रकार के होते हैं- सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम।

23.4.7 अवयव

अनुमान के दो भेदों का पहले उल्लेख किया जा चुका है। उन्हीं मे से एक भेद परार्थानुमान है। यहाँ परार्थानुमान के भिन्न-भिन्न अंग-वाक्य अवयव कहलाते हैं- **परार्थानुमानवाक्यैकदेशः अवयवः**। ये अवयव संख्या में पाँच हैं- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन।

इन अवयवों का विस्तृत विवेचन आगे के अध्याय में किया जाएगा।

23.4.8 तर्क

न्यायदर्शन में तर्क की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कदाचित् तर्क के कारण ही न्याय अन्य दर्शनों से भिन्न है। यहाँ तर्क की परिभाषा इस प्रकार की गयी है- व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्क: अर्थात् व्याप्य के आरोप के द्वारा व्यापक का आरोप तर्क है। इसे आप इस प्रकार समझ सकते हैं कि पहाड़ पर उठते हुए धुएँ को देखकर हम यह तर्क करते हैं कि **यद्यत्राग्न्यभावः स्यात् तर्हि धूमाभावः स्यात्** अर्थात् यदि यहाँ अग्नि का अभाव रहता तब तो धूम का भी अभाव होता। क्योंकि नियम यह है कि जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव होता है,वहाँ-वहाँ धूम का भी अभाव होता है। इसलिये अग्न्यभाव और धूमाभाव में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। यहाँ अग्न्यभाव व्याप्य और धूमाभाव व्यापक है। इस स्थल पर अग्न्यभाव (व्याप्य) के आरोपण से धूमाभाव (व्यापक) भी आरोपित हो जाता है,जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसलिये व्याप्य का आरोपण (अग्न्यभाव) मिथ्या सिद्ध होता है। इस तरह अग्न्यभाव का मिथ्यात्व सिद्ध होने से अग्नि का भाव सूचित होता है। यही तर्क है।

23.4.9 निर्णय

किसी भी प्रतिपाद्य विषय के लक्ष्य तक पहुंचना ही सामान्यतया निर्णय है। संशय की स्थिति में दोनों पक्षों को विवेचन कर जिस निश्चय पर पहुँचा जाता है,वह निर्णय कहलाता है। गौतम का मानना है कि **विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः**। तदनुसार पक्ष एवं विपक्ष के द्वारा विमर्श करने के पश्चात् नश्चय करना निर्णय है। दूसरे शब्दों में जिस पक्ष की प्रमाण द्वारा

सिद्धि होती है, उसी का अवधारण वा निश्चितार्थ ज्ञान निर्णय कहलाता है। वात्स्यायन के अनुसार **निर्णयस्तत्त्वज्ञानं प्रमाणानां फलम्**अर्थात् निर्णयरूपी तत्त्वज्ञान ही प्रमाणों का फल है। अन्नम्भट्ट ने दीपिका में इसे इस प्रकार कहा है- **निर्णयो निश्चय: स च प्रमाणफलम्**।

23.4.10 वाद

यदि पहले उद्देश्य को लेकर शास्त्रार्थ किया जाता है,तो उसे वाद कहते हैं। अन्नम्भट्ट के अनुसार तत्त्वज्ञान के भूख की चर्चा वाद है- **तत्त्वबुभुत्सो: कथा वाद:**। इसमें वादी और प्रतिवादी दोनों ज्ञान के भूखे (ज्ञान बुभुत्सु) होते हैं विजय के इच्छुक (विजिगीषु) नहीं। वे जिज्ञासुभाव से विवाद में प्रवृत्त होते हैं,न कि जीतने के भाव से।

23.4.11 जल्प

जो कथा केवल जीतने की इच्छा से की जाती है, उसे जल्प कहते हैं- **विजगीषु कथा जल्प:**। इसी को स्पष्ट करते हुए दीपिकाकार कहते हैं कि **उभयसाधनवती विजगीषु कथा जल्प:**। यहाँ उभय से तात्पर्य है वादी एवं प्रतिवादी। तदनुसार इसमें वादी और प्रतिवादी दोनों का यही लक्ष्य रहता है कि किसी भी तरह अपने प्रतिपक्षी को परास्त किया जाय। ऐसे में दोनों पक्ष छल आदि के प्रयोग के द्वारा भी जीतने का प्रयास करते हैं।

23.4.12 वितण्डा

यदि जल्प करने वाला केवल प्रतिपक्ष का खण्डन ही करे तथा अपना पक्ष स्थापित न करे तो ऐसे जल्प को वितण्डा कहते हैं- **स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा** अथवा **स्वपक्षस्थापनाहीनो**। वितण्डावादी छल जाति आदि उपायों का अवलम्बन तो करता ही है, अपना प्रतिपक्ष भी स्थापित नहीं करता है। उसका कार्य केवल ध्वंसात्मक होता है,रचनात्मक नहीं।

23.4.13 हेत्वाभास

अनुमान के अन्तर्गत भी इसका विश्लेषण किया जाता है। किन्तु नैयायिकों ने इसे पदार्थ के अन्तर्गत भी रखा है। यह एक प्रकार की पुनरावृत्ति मानी जाती है किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि इसमें कतिपय भिन्न विषयों का भी समावेश किया गया है जिनकी व्याख्या आगे के पाठ में किया जाएगा।

हेत्वाभास का अर्थ है हेतु का आभास। किन्तु जो वस्तुत: हेतु नहीं हुआ करता है फिर भी हेतु के समान ही जिसकी प्रतीति होती है उसको हेत्वाभास कहा जाता है। इसमें हेतु के लक्षण घटित नहीं होते। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिसमें साध्य को सिद्ध करने की शक्ति नहीं है, उसे हेत्वाभास जानना चाहिए।

23.4.14 छल

यह वाद को जीतने के लिये अपनायी जाने वाली एक अवैध विधा है। नैयायिकों ने इसे भी षोडश पदार्थों के अन्तर्गत स्वीकार किया है। गौतम ने न्यायसूत्र में इसका लक्षण देते हुए कहा है कि **वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्या छलम्** अर्थात् वक्ता के अभिप्रेत अर्थ को छोड़कर,अर्थान्तर का आरोप करते हुए,वचन-विघात करना (बात काटना) छल कहलाता है। तर्कभाषाकार ने इसे समझाते हुए कहा है कि किसी दूसरे अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द का कोई

भिन्न अर्थ कल्पित करके दोष दिखाना छल है- **अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरं परिकलप्य दूषणाभिधानं छलम्**। छल तीन प्रकार के होते हैं- वाक छल, सामान्य छल तथा उपचार छल।

23.4.15 जाति

गौतम ने जाति की परिभाषा इस प्रकार दी है- **साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः**।केवल साधर्म्य (समानता) और वैधर्म्य (विभिन्नता) के आधार पर जो प्रत्यवस्थान (दोष निरूपण) किया जाय उसे जातिकहते हैं। अर्थात् व्याप्ति-सम्बन्ध स्थापित किये बिना केवल सादृश्य और वैधर्म्य के बल पर जो खण्डन किया जाता है, वह जाति कहलाता है। इस शास्त्रीय लक्षण को सरलता से समझाते हुए केशव मिश्र ने कहा है कि आयुक्त अथवा अनुचित उत्तर जाति है- **असदुत्तरं जातिः**। जाति के द्वारा जो प्रतिषेध (दूषण या खण्डन) किया जाता है,उसके २४ भेद गौतम ने गिनाये हैं।

23.4.16 निग्रहस्थान

षोडश पदार्थों में अन्तिम पदार्थ निग्रहस्थान है जिसका अर्थ है पराजय का स्थान। इसे निन्दा या तिरस्कार का स्थान भी कहते हैं। शास्त्रार्थ में जो जो अवस्थाएँ पराजय की सूचक हैं तथा वादी को जिन जिन कारणों से हार का मुँह देखना पड़ता है, वे अवस्थाएं तथा कारण ही निग्रहस्थान हैं**पराजयहेतुः निग्रहस्थानम्**। इसी को दीपिकाकार इस प्रकार कहते हैं- **वादिनोपजयहेतुर्निग्रहस्थानम्**।

23.5 द्वितीय सूत्र 1.1.2

षोडश पदार्थों के परिगणन के क्रम में द्वितीय पदार्थ के रूप में प्रमेय का उल्लेख प्राप्त होता है। तदनन्तर इस प्रमेय के द्वादश भेदों का विवरण प्राप्त होता है। उन प्रमेयों में अन्तिम तथा बारहवाँ प्रमेय अपवर्ग है। इस अपवर्ग की सिद्धि के लिये ही षोडश पदार्थों का वर्गीकरण किया गया था। उन पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से ही इसकी सिद्धि बतायी गई है।

न्यायसूत्र का आरम्भ इस वाक्य से होता है कि सोलह पदार्थों के वास्तविक ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति की जा सकती है। इस निःश्रेयस की प्राप्ति की एक प्रक्रिया है जिसे गौतम ने दूसरे सूत्र के माध्यम से स्पष्ट किया है- **दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्या- ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः**। वह इस प्रकार कि सम्यक् ज्ञान मिथ्या ज्ञान को दूर करता है,मिथ्या ज्ञान के दूर हो जाने से समस्त दोष दूर हो जाते हैं,ऐसे दोषों के दूर हो जाने से कर्म मिट जाते हैं,कर्मों के मिट जाने पर पुनर्जन्म से छुटकारा मिल जाता है और पुनर्जन्म से छुटकारा मिलने पर समस्त दुख पूर्णतः दूर हो जाते हैं। इस प्रकार दुःखों की यह आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष, अपवर्गया निःश्रेयस है। इस प्रणाली के अनुसार मोक्ष समस्त पीड़ाओं एवं दुखों के पूर्ण एवं परम निषेध की अवस्था है।

इस आशय को भाष्यकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है- **यदा तुतत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपायान्ति। दोषापाये प्रवृत्तिरपैतिः प्रवृत्यपाये जन्मापैति जन्मापाये दुःखमपैति। दुःखापाये चात्यान्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसम्।**

अन्नम्भट्ट ने अपवर्ग को ही मोक्ष कहा है- **अपवर्गो मोक्षः**। अन्यत्र इसे आत्यन्तिक

दुःखनिवृत्ति कहा गया। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का अर्थ है, जो दुःख का मूलोच्छेद ही कर डाले। ऐसा तभी हो सकता है जब इक्कीस प्रकार के दुःख नष्ट हो जायँ- **एकविंशतिभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः**। न्याय में इक्कीस प्रकार के दुःखों की अवधारणा है।

इसी मुक्ति को सूत्रकार निःश्रेयस् या अपवर्ग,भाष्यकार चरम दुःखध्वंस और वार्त्तिककार आत्यन्तिक दुःखाभाव कहते हैं।

मोक्ष-प्राप्ति के लिये वासनाओं (पूर्वजन्म के संस्कार) का अन्त होना जरूरी है। वासनाओं का मूल कारण है मिथ्याज्ञान। अतः मिथ्याज्ञान के नाश से वासनाओं का मूलोच्छेद हो जाता है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति तत्त्वज्ञान से ही हो सकती है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान (प्रमाणादि पदार्थों का ज्ञान) निःश्रेयस का साक्षात् कारण न होते हुए भी उसका परम्परा से कारणसिद्ध होता है। अतएव गौतम के प्रारम्भिक सूत्र की प्रतिज्ञा यही है- **तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः**।

23.6 सारांश

इस पाठ के अन्तर्गत न्याय के द्वारा बताये गये षोडश पदार्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस क्रम में हमने जाना कि इन षोडश पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से ही निःश्रेयस् अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। इन पदार्थों में प्रथम पदार्थ प्रमाण हैं जो चार हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। ये प्रमाण ही आधुनिक न्याय-साहित्य के आधार-स्तम्भ हैं। इन चारों प्रमाणों के संक्षिप्त परिचय के बाद द्वादश प्रमेय का भी परिचय प्राप्त किया गया। जिसमें आत्मा, शरीरादि द्वादश प्रमेयो के लक्षण एवं स्वरूप बतलाये गये हैं। प्रमेय वस्तुत: सारे ज्ञातव्य विषयों को कहा गया। इसके साथ ही एक प्रमुख विषय या अंतिम पदार्थ अपवर्ग का विश्लेषण किया गया है। न्यायसूत्र के द्वितीय सूत्र में इसको परिभाषित किया गया है। सारे कष्टों से सदा के लिये विमुक्ति ही नैयायिकों का मोक्ष या अपवर्ग है। आशा है न्याय के सारे पदार्थों को सरलता से समझने के लिये यह पाठ अनुकूल होगा।

23.7 शब्दावली

अमर्ष - क्रोध

आत्यन्तिक - सर्वदा के लिये

तज्जन्य - उससे उत्पन्न

निवृत्ति - छुटकारा या मोक्ष

प्रतिपक्ष - विरोधी

बाह्येन्द्रियानुग्राहक - बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जाने वाला

बुभुत्सु - भूखा या खाने की इच्छा करने वाला

विजगीषु - जीतने की इच्छा करने वाला

23.8 बोध-प्रश्न

23.8.1 अतिलघूत्तरीय

1. भोगायतन किसे कहा जाता है?
2. अवयवों की संख्या कितनी है?
3. सिद्धस्य संस्थितिः किसका लक्षण है?
4. अनुमान के कितने भेद हैं?
5. सविकल्पक का लक्षण क्या है?

23.8.2 लघूत्तरीय

1. उपमिति के फल क्या क्या हैं?
2. गौतम के अनुसार कितने प्रमेय हैं और कौन-कौन?
3. दु:ख के विविध लक्षण को बताएं।
4. जाति की क्या परिभाषा है?
5. छल कितने प्रकार के हैं और कौन-कौन?

23.8.3 दीर्घोत्तरीय

1. न्याय के प्रमाणों की अवधारणा को सविस्तार स्पष्ट करें
2. प्रमेय के भेदों को सोदाहरण समझाएं।
3. न्याय-दर्शन में मोक्ष का विवेचन करें।

23.8.4 अतिलघूत्तरीय प्रश्नों के उत्तर

1. शरीर, 2. पाँच, 3. सिद्धान्त का, 4. दो, 5. सप्रकारकं ज्ञानम्

23.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. उपाध्याय, बलदेव,**भारतीय दर्शन**,चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, 1967
2. चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद,**भारतीय दर्शन सरल परिचय** राजकमल प्रकाशन, 1965
3. झलकीकर, **न्यायकोश**, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, 1997
4. झा, डॉ० वीणा, **शङ्कर का अद्वैत वेदान्त**, **बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी**, **पटना**
5. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ, **भारतीय दर्शन का इतिहास**, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 1988
6. द्विवेदी, डॉ० पारसनाथ, **भारतीय दर्शन**,श्रीराम मेहर एण्ड कम्पनी, पुस्तक प्रकाशक, आगरा
7. बन्दिष्टे, डॉ० डी०डी०, **भारतीय दार्शनिक निबन्ध**, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1983

8. भट्टाचार्य, डॉ० अभेदानन्द,**शांकर वेदान्त,** दुर्गा पब्लिकेशन, 1991
9. भारतीय, महेश, **भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ** इण्डो-विज़न प्रा. लि. गाजियाबाद, 1999
10. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार, **प्रमाणमञ्जरी** VidyanidhiPrakashan, Khajoorikhas, Delhi – 110090, 2018
11. मिश्र, नयराम,**आदि शङ्कराचार्य जीवन और दर्शन**,लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984
12. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार,**तर्कसंग्रह तर्कदीपिकासहित तन्वी व्याख्या** Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 2013
13. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार,**वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप** Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 1998
14. मिश्र, प्रो० हृदय नारायण, **अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक विवेचन,**उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2011
15. शर्मा, डॉ० ऊर्मिला,**अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान** छन्दस्वती प्रतिष्ठान वाराणसी,1978
16. शर्मा, चन्द्रधर, **भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन**, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण,1990
17. शर्मा, राममूर्ति,**भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा**,मणिद्वीप दिल्ली, 1999
18. शास्त्री, द्वारिकदास,**न्यायदर्शनम्** वात्स्यायनभाष्यसहित,बौद्ध ग्रन्थमाला 11, बौद्धभारती वाराणसी, 1984
19. शास्त्री, द्वारिकदास,**न्यायभाष्य,** सुधी न्थमाला 10, सुधी प्रकाशन 1986
20. शास्त्री, रामानन्द तिवारी, **भारतीय दर्शन की भूमिका**,नवयुग प्रेस, भरतपुर, 1958
21. शुक्ल, डॉ. दीनानाथ,**भारतीयदर्शन परिभाषा कोश**,प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली। प्रथम संस्करण, 1983
22. सरस्वती, श्रीहरिहरानन्द, **वेदान्त विचार**,नारदघाट, वाराणसी
23. Mishra, Pankaj Kumar, **THE TARKABHASHA** of Keshav Mishra Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 2005

इकाई 24 त्रिविधः शास्त्रप्रवृत्ति

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 शास्त्रप्रवृत्ति

24.2.1 शास्त्र-प्रवृत्ति के भेद

24.2.2 शास्त्र-प्रवृत्ति की उपयोगिता

24.3 उद्देश

24.4 लक्षण

24.4.1 लक्षण का लक्षण

24.4.2 लक्षण का प्रयोजन

24.4.3 लक्षण के दोष

24.4.3.1 लक्षण के अन्य दोष

24.5 परीक्षा

24.6 सारांश

24.7 शब्दावली

24.8 बोध-प्रश्न

24.8.1 अतिलघूत्तरीय

24.8.2 लघूत्तरीय

24.8.3 दीर्घोत्तरीय

24.8.4 अतिलघूत्तरीय प्रश्नों के उत्तर

24.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

24-0 **उद्देश्य**

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप जान पाएंगे कि

- किसी भी शास्त्र के निर्माण के नेपथ्य में किन आवश्यक तथ्यों को ध्यान रखना चाहिए।
- शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति क्या है?
- इन तत्त्वों में उद्देश क्या है?
- लक्षण क्या है?
- परीक्षा क्या है?
- ये सारी प्रवृत्तियाँ मिलकर शास्त्र को पूर्ण कैसे बनाती है?

24.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन परम्परा में विषय वस्तु के प्रतिपादन के लिये कतिपय पद्धतियों को प्रयोग में लाया जाता है। शास्त्र लेखन के क्रम में ऐसी पद्धतियों को स्पष्ट करना शास्त्रकारों का विशिष्ट उद्देश्य होता है। जैसे वेदान्त विद्या को जानने के लिये साधन-चतुष्टय को समझाया जाना।

इसी प्रकार न्याय दर्शन ने अपने शास्त्रों की स्पष्टता के लिये एक विशिष्ट पद्धति अपनायी, जिसे नैयायिकों ने **शास्त्रप्रवृत्ति** नाम दिया। अर्थात् शास्त्र में विविध विचारों को समाहित करने की प्रवृत्ति या शास्त्र लेखन की ऐसी विधा जो स्वाभाविक रूप से प्रतिपाद्य को सविस्तर तार्किक रूप से प्रस्तुत करें। काव्यशास्त्र के आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार यह प्रवृत्ति लक्ष्यपरीक्षा पर आधारित होती है। वैयाकरण पतंजलि ने शास्त्रप्रवृत्ति के लिये वृत्ति शब्द माना है।

24.2 शास्त्रप्रवृत्ति

न्याय दर्शन की यह स्थापना है कि तत्वज्ञान सम्यग्ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस तत्त्वज्ञान का साधन न्यायशास्त्र है किन्तु इस शास्त्र में वर्णित प्रमाण आदि षोडश पदार्थों के कथनमात्र से अथवा अध्ययन कर लेने मात्र से तो तत्त्वज्ञान नहीं हो जाता,अपितु शास्त्र में पदार्थों का युक्ति युक्त विवेचन किया जाता है और तभी शास्त्र तत्वज्ञान का साधन बन पाता है। शास्त्र में इस विवेचन की प्रक्रिया को ही **शास्त्रप्रवृत्ति** नाम से कहा गया है।

इस सन्दर्भ में शास्त्रप्रवृत्ति का प्रथम उल्लेख हमें वात्स्यायन के न्यायभाष्य में प्राप्त होता है। वहाँ **त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति** इस त्रिविध प्रवृत्ति का कथन किया गया है। तदनुसार भाष्यकार ने कहा है कि इस न्याय शास्त्र की तीन प्रकार से प्रवृत्ति होती है-1. उद्देश, 2. लक्षण और 3. परीक्षा। न्याय शास्त्र की यह स्पष्ट स्थापना है कि प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश पदार्थों का सम्यग्ज्ञान, उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा के बिना सम्भव नहीं। एतदर्थ न्याय सूत्र का उद्धरण देते हुए तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने कहा है कि प्रमाणादि पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। यह तभी सम्भव है जब इनके उद्देश लक्षण एवं परीक्षा का विमर्श न किया जाए। तद्यथा- **प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। इति न्यायस्यादिमं सूत्रम्।अस्यार्थः। प्रमाणादिषोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवतीति। न च प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तावद्भवति यावदेषा मुद्देशलक्षण परीक्षा न क्रियन्ते।**

यह मुख्यतः न्याय शास्त्र में ही प्रयुक्त होता है। शास्त्र की इस त्रिविध प्रवृत्ति के साथ साथ हमें कतिपय अन्य भेद भी प्राप्त होते।

24.2.1 शास्त्र-प्रवृत्ति के भेद

शास्त्र-प्रवृत्ति के विविध भेदों के विषय में अन्य शास्त्रों में अलग-अलग मत प्राप्त होते हैं। न्यायसूत्र पर भाष्य करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन नेशास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है- **त्रिविधाचास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति**। न्याय के **समान-तन्त्र**कहलाने वाले वैशेषिक में त्रिविध नहीं अपितु परीक्षा को छोड़ कर केवल उद्देश और लक्षण रूप द्विविध प्रवृत्ति का ही वर्णन है। बौद्ध, जैनादि के ग्रन्थों में केवल उद्देश रूप एकविध प्रवृत्ति का निर्देश प्राप्त होता है। द्विविध प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए वैशेषिक दर्शन के

प्रशस्तपादभाष्य पर कन्दलीटीका के लेखक श्रीधराचार्य के अनुसार- **अनुद्दिष्टेषु पदार्थेषु न तेषां लक्षणानि प्रवर्तन्ते निर्विषयत्वात्। अलक्षितेषु च तत्त्वप्रतीत्यभावः कारणाभावात्। अतः पदार्थव्युत्पादनाय प्रवृत्तस्य शास्त्रस्योभयथा प्रवृत्तिः। उद्देशो लक्षणं च। परीक्षायास्तु न नियमः।**

अर्थात् पदार्थों का उद्देश न करने पर उनके लक्षण नहीं हो सकते हैं क्योंकि लक्षण का कोई विषय उपस्थित नहीं है जिसका लक्षण किया जाय। इसी कारण से उद्देश करना आवश्यक है। यदि पदार्थों के लक्षण न किए जायें तो तत्वज्ञान का कारण न होने से तत्त्वज्ञान नहीं होगा। इसलिए पदार्थ बोधन के लिए प्रवृत्त शास्त्र के उद्देश और लक्षण रूप दोनों प्रकार की प्रवृत्ति आवश्यक है। परन्तु परीक्षा का कोई नियम नहीं है।

यत्राभिहिते लक्षणे प्रवादान्तरव्याक्षेपात् तत्त्वनिश्चयो न भवति तत्र परपक्षव्युदासार्थं परीक्षाविधिरधिक्रियते। यत्र तु लक्षणाभिधानसामर्थ्यादेव तत्वनिश्चयः स्यात् तत्रायं व्यर्थो नार्थ्यते। योऽपि त्रिविधां शास्त्रस्य प्रवृत्तिमिच्छति तस्यापि प्रयोजनादीनां नास्ति परीक्षा। तत् कस्य हेतोर्लक्षणमात्रादेव ते प्रतीयन्त इति। एवं चेदर्थप्रतीत्यनुरोधात् शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्न त्रिविधैव।

जहाँ लक्षण कर देने पर भी दूसरे मतों के आक्षेप के कारण तत्त्वनिर्णय नहीं हो पाता है वहाँ परपक्ष के खण्डन के लिये परीक्षा विधि का अवलम्बन किया जाता है। और जहाँ लक्षण कथन मात्र से ही तत्व का निश्चय हो जाता है वहाँ परीक्षाविधि के व्यर्थ होने से उसका अवलम्बन नहीं किया जाता। और जो कोई (भाष्यकार वात्स्यायन)भी त्रिविध शास्त्र-प्रवृत्ति मानते हैं उनके यहां भी प्रयोजन आदि की परीक्षा नहीं की गई है। यह ऐसा इसलिये है कि क्षणमात्र से ही उनकी प्रतीति हो जाती है। ऐसी स्थिति में अर्थ की प्रतीति के अनुसार ही प्रवृत्ति होती है न यह कहना चाहिए कि तीन ही प्रकार की प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार भाष्यकार वात्स्यायन ने त्रिविध प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है जब कि वैशेषिक दर्शन के टीकाकार श्रीधराचार्य ने द्विविध प्रवृत्ति का वर्णन किया है। इसका कारण यह है कि न्याय दर्शन के अधिकांश विषयों के विवेचन में सूत्रकार ने ही परीक्षा विधि का भी अवलम्बन किया है। प्रयोजन आदि के वर्णन में यद्यपि परीक्षा विधि का प्रयोग न्यायसूत्रों में नहीं मिलता है फिर भी अधिकांश भाग में परीक्षा भी पाई जाती है इसलिए न्याय के भाष्यकार ने सामान्य रूप से त्रिविध प्रवृत्ति का वर्णन किया है। इसके विपरीत वैशेषिक दर्शन में सूत्रकार ने परीक्षा विधि का अवलम्बन नहीं किया है। केवल उद्देश और लक्षण विधि का ही उन्होंने सर्वत्र आश्रय ग्रहण किया है। अतएव वैशेषिक दर्शन के टीकाकार श्रीधराचार्य ने परीक्षा को छोड़ कर केवल द्विविध शास्त्रप्रवृत्ति का वर्णन किया है।

न्याय की इस त्रिविध प्रवृत्ति के अतिरिक्त न्यायवार्तिककारउद्योतकराचार्य तथा न्यायमञ्जरीकारजयन्तभट्ट ने प्रवृत्ति सम्बन्धी एक चतुर्थ प्रकार **विभाग**के सम्बन्ध में भी विचार किया है। उनका कथन है कि न्यायशास्त्र में कहीं पर तो पहले पदार्थ का लक्षण कर तब उनके विभागों का वर्णन किया गया है (जैसे-छलआदि का) और कहीं पदार्थ के प्रकारों (विभागों) का वर्णन कर तब उनके लक्षण तथा परीक्षा का क्रम रखा गया है। जैसे-प्रमाणों का विभाग करने के पश्चात् प्रत्यक्ष आदि का लक्षण किया गया है। अतः विभाग नामक चतुर्थप्रवृत्ति का भी माना जाना उचित है।

इस शङ्का का निराकरण करते हुए उन्होंने स्वयं ही कहा है कि विभाग (वर्गीकरण) का अन्तर्भाव उद्देश्य में ही हो जाता है-**उद्दिष्टविभागस्योदेश एवान्तर्भावात्। कस्मात्?लक्षणसामान्यात्। समानं लक्षणं नामधेयेन पदार्थाभिधानमुद्देश इति**।क्योंकि दोनों का लक्षण समान है। नाममात्र से पदार्थों के कथन का ही नाम उद्देश है। विभाग में भी विभक्त पदार्थों के नाममात्र का ही कथन होता है। अतः विभाग का अन्तर्भाव उद्देश में किया जाना उचित ही है।अतः उसके पृथक् परिगणन की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार, शास्त्र की उक्त तीन ही प्रवृत्तियाँ होती हैं।

24.2.2 शास्त्र-प्रवृत्ति की उपयोगिता

इन तीन प्रवृत्तियों के प्रवर्तन के पश्चात् अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि ये तीन प्रवृत्तियाँ ही शास्त्र के अनुकूल हैं तो इसकी उपयोगिता क्या है?

न्यायशास्त्र में इन तीनों की उपयोगिता पूर्णरूप से है। नाम मात्र से पदार्थ का कथन कर देना ही उद्देश है। यदि उद्देश ही न किया जाय तो फिर लक्षण किसका किया जायगा? अतः पदार्थों के सम्यक् विवेचन के निमित्त सर्वप्रथम उनका नाम द्वारा कथन करना परमावश्यक है किन्तु नाममात्र से कथन कर दिये जाने के अनन्तर यदि उनके स्वरूप का विवेचन (लक्षण) न किया जाय तो उस पदार्थ का ज्ञान ही प्राप्त न हो सकेगा। अतः लक्षण की अनिवार्यता भी स्पष्ट है। तत्पश्चात् यदि किये गये लक्षण की परीक्षा न की जाय अर्थात् लक्षण उस पदार्थ में घटता है या नहीं यह न देखा जाय तो पदार्थ के वास्तविक स्वरूप के बारे में सन्देह भी उत्पन्न हो सकता है। ऐसी स्थिति में पदार्थों का तत्वज्ञान भलीभाँति न हो सकेगा अतः लक्षण की परीक्षा भी परमावश्यक ही है। इस दृष्टि से न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति के ये तीन अङ्ग माने गये हैं।

इन तीनों अङ्गों में सर्वप्रथम स्थान पर उद्देश को इसलिये रखा गया है कि धर्मी का नाममात्र द्वारा कथन किया जाना ही उद्देश है तथा धर्मी और धर्म इन दोनों में धर्मी की ही प्रधानता हुआ करती है। इसी प्रकार परीक्षा से पूर्व अर्थात् द्वितीय स्थान पर लक्षण को इस कारण रखा गया है कि लक्षण के विषय में विचार करने का ही नाम परीक्षा है।

इस सन्दर्भ में इन तीनों का विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

24.3 उद्देश

भाष्यकार वात्स्यायन ने शास्त्र की प्रथम प्रवृत्ति में उद्देश को समाहित किया है। पाठकों की सुविधा के लिये यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यह शब्द उद्देश है न कि उद्देश्य।नाममात्र का जहाँ परिगणन किया जाता है,वह उद्देश है। जब कि किसी भी प्रकार का प्रयोजन या लक्ष्य निर्धारण उद्देश्य होता है।

उद्देश का लक्षण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि **तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः** अर्थात् पदार्थों का कथन करना उद्देश है। वस्तुत: प्रतिपाद्य विषयों का संकलन उद्देश है। **उद्देशो लक्षणं परीक्षा च** इस भाष्य में उल्लिखित उद्देश शब्द का अर्थ है- केवल नाम बताकर वस्तु का कथन करना। जैसे प्रमाण,प्रमेय,संशय,आदि केवल नाम से ही वस्तु को बताया गया है। इसीलिये उद्देश का लक्षण **नाममात्रेणवस्तुसंकीर्तनम्**किया गया है। ग्रन्थ लेखन की आधुनिक पद्धति पर यदि विमर्श करें तो ग्रन्थ के आरम्भ में जो विषय-

सूची या विषयानुक्रमणिका दी जाती है, सम्भवत: वही प्राचीनकालिक उद्देश है।

उद्देश का लक्षण करते हुए तर्कभाषाकार ने इस प्रकार किया है- **उद्देशस्तुनाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनम्** अर्थात् नाममात्र से पदार्थ (वस्तु) का कथन करना उद्देश है। इस लक्षण के प्रमाण में तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने न्याय के प्रथम सूत्र का उद्धरण दिया है। तदनुसार न्यायशास्त्र के इसी **प्रमाण-प्रमेयादिरूप**प्रथम सूत्र सेकर दिया गया है। यथा- **प्रमाण,प्रमेय,संशय,प्रयोजन,दृष्टान्त,सिद्धान्त,अवयव,तर्क,निर्णय,वाद,जल्प,वितण्डा,हेत्वाभास,छल,जाति,निग्रहस्थान**- इन पदार्थों का परिगणन ही न्यायशास्त्र का उद्देश है।

तर्कभाषाकार के द्वारा दिए गये लक्षण की परीक्षा की जाती रही है। उन्होंने उद्देश का लक्षण नाममात्रेणवस्तुसंकीर्तन किया गया है। उद्देश के इस लक्षण में विद्यमान प्रत्येक पद की सार्थकता है। यदि इनमें से एक भी पद निकाल दिया जाय तो उद्देश का लक्षण अन्यत्र भी चला जायेगा। इस लक्षण में कुल तीन पद हैं- नाम मात्र तथा वस्तुसंकीर्तनम्। यदि इस लक्षण में से 'मात्र'पद को हटा दिया जाए तो 'नाम्नावस्तुसंकीर्तनम्'इतना ही लक्षण रहेगा। तब वह लक्षण, 'प्रमाण'के लक्षण 'प्रमाकरणंप्रमाणम्' में भी चला जायेगा, क्योंकि प्रमाण के लक्षणमें भी नाम लेकर प्रमाणपदार्थ (वस्तु) का कथन किया गया है। इस प्रकार उद्देश लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। किन्तु जब हम उद्देश लक्षण में 'मात्र'पद को रख देते हैं तोमात्र शब्द रखने पर उक्त लक्षण प्रमाकरणं प्रमाण में नहीं जायेगा क्योंकि इसमें केवल नाम मात्र का कथन न होकर प्रमाण के स्वरूप का भी विवेचन विद्यमान है।

यदि उद्देश के उपर्युक्त रक्षण में से नाममात्रेण पद हटा दिया जाय'वस्तुसंकीर्तनम्' इतना ही लक्षण बचेगा। तब इस लक्षण की 'लक्षण और परीक्षा'में भी अतिव्याप्ति होगी क्यों क्योंकि 'वस्तुसंकीर्त्तनम्' ही उद्देश का लक्षण मान लेने पर 'लक्षण'और 'परीक्षा'दोनों के लक्षणों में भी वस्तु का निरूपण (प्रतिपादन) तो होता ही है। 'नाममात्रेण'पद रखने पर यह दोष नहीं आयेगा क्योंकि वहाँ नाममात्र से वस्तु का कथन करने के अतिरिक्त उनका लक्षण कथन आदि भी होता है।

इसी प्रकार यदि लक्षण में से 'वस्तु'शब्द को निकाल दें तथा'नाममात्रेणसंकीर्तनम्'इतना से ही उद्देश का लक्षण करें तो लक्षण अन्य स्थलों पर भी चला जायेगा।इस प्रकार उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। इसलिये 'वस्तु'पद को लक्षण में रखा गया है, जिससे अतिव्याप्ति नहीं होती।

शास्त्र के उसी अंश को **उद्देश** कहते हैं,जहां प्रथमतःकिसी पदार्थ का नामग्रहणपूर्वक निर्देश किया जाता है। इसीलिये उद्देश का अर्थ **उपदेश** किया जाता है। इस प्रकार न्यायशास्त्र के आरम्भ सूत्र में प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थों का नाममात्र बताकर जो उपदेश किया गया है,वह न्यायशास्त्र की उद्देशात्मक प्रवृत्तिका उदाहरण है।

24.4 लक्षण

त्रिविध शास्त्र प्रवृत्ति में से द्वितीय लक्षण है। इसके माध्यम से उद्दिष्ट वस्तु का गुण सहित परिचय करवाया जाता है। साथ ही किसी अन्य वस्तु से उसकी समानता न रह जाए, ऐसा प्रयास किया जाता है- **उद्दिष्टस्य स्वपरजातीयव्यावर्तको धर्मो लक्षणम्**।

ध्यातव्य है कि उद्दिष्ट पदार्थों का लक्षण किया जाता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर नैयायिकों ने अपने प्रतिपाद्य का सूक्ष्मतया लक्षण प्रवर्तित किया है। तदनुसार, असाधारण धर्म के कथन को लक्षणकहते हैं- **लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्**। जैसे- गो: सास्नादिमत्वम् अर्थात्सास्नादिमान् होना (गलकम्बलवालीहोना) गोका लक्षण है।

यहाँ असाधारण धर्म को भी समझ लिया जाना चाहिए। किसी पदार्थ का वह धर्म जो केवल उसी पदार्थ में रहे,अन्यत्र न रहे अथ वा असाधरण हो,लक्षण कहलाता है- **असाधरणधर्मो लक्षणम्**। जैसे- गाय का सास्नादिमत्त्व अर्थात् गलकम्बल युक्त होना।

गाय के गले के नीचे की ओर जो खाल लटकती रहा करती है उसी का नाम सास्ना अथवा गलकम्बल है। सास्नागाय के अतिरिक्त किसी अन्य प्राणी के नहीं हुआ करती है। अतएव गाय का यही असाधारण (विशिष्ट) धर्म हुआ। इसी का नाम लक्षण है।

यह असाधारण धर्म तीन प्रकार के वैशिष्टयों से युक्त होता है:–

1. वह लक्ष्य में अवश्य विद्यमान रहता है।
2. सभी लक्ष्यों में उसकी विद्यमानता रहा करती है
3. लक्ष्य से भिन्न में नहीं रहा करता है।

यदि उपर्युक्त तीनों विशेषताओं से वह विपरीत है तो अवश्य ही वह लक्षण असंभव, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से युक्त होगा।इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है किअसंभव,अव्याप्ति और अतिव्याप्ति इन तीनों दोषों से रहित धर्म ही लक्षण होता है।

इससे पूर्व कि हम लक्षण के स्वरूप का प्रतिपादन करें, यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि लक्षण का प्रयोजन क्या है?

24.4.1 लक्षण का प्रयोजन

किसी भी वस्तु या पदार्थ के लक्षण करने का प्रयोजन यह है कि इतर से लक्षित वस्तु की व्यावृत्ति करना और व्यवहार को प्रवृत्त करना। इस प्रकार लक्षण के दो प्रयोजन स्वीकार किये जाते हैं- **व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्**। तदनुसार,

1. व्यावृत्ति अर्थात् सजातीय या विजातीय अन्य पदार्थों से भेद कराना
2. व्यवहार

व्यावृत्ति का अर्थ है भेद अथवा भिन्नता। जिस वस्तु का लक्षण अभीष्ट होता है उसके कुछ समान जाति वाले (सजातीय) पदार्थ होते हैं और कुछ भिन्न जाति के (अर्थात् विजातीय) पदार्थ हुआ करते हैं। लक्षण के द्वारा लक्षित-वस्तु का सजातीय एवं विजातीय दोनों ही प्रकार के पदार्थों से भेद दिखला दिया जाता है। यह लक्षण का प्रथम प्रयोजन है। इसी का **समानासमानजातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणार्थ:** इन शब्दों द्वारा कथन किया गया है। जैसे - गो का लक्षण सास्नादि मान् होना है। गौ का लक्षण उसे सजातीय भैंस आदि (चतुष्पाद) से तथा विजातीय मनुष्य,मयूर आदि (द्विपाद) अथवा वृक्ष आदि पदार्थों से भिन्न (पृथक्) करता है क्योंकि इन सभी में सास्ना (गलकम्बल) आदि नहीं होती है।

लक्षण का दूसरा प्रयोजन है **व्यवहार**। उक्तसास्नादिमत्व धर्म या लक्षण गौ व्यवहार का प्रवर्तक भी है।इसलिये व्यवहार भी लक्षण का प्रयोजन है। इस प्रकार लक्षण के द्विविध प्रयोजन माने गए हैं।

इस प्रकार लक्षण के दोनों प्रयोजनों का संक्षेप मे कथन कर अब लक्षण के स्वरूप के बारे में विचार करना है। दूसरे शब्दों में अब लक्षण की परीक्षा की जाती है अर्थात् जो हमने लक्षण दिया है वह सही अर्थ वा तर्कसंगत है कि नहीं,इसका विवेचन करना।

24.4.2 लक्षण का लक्षण

इन तीनों विभागों में से उद्देश और परीक्षा का लक्षण स्पष्ट है। परन्तु **लक्षण** का लक्षण यहाँ थोड़ा समझने योग्य है। लक्षण शब्द का अर्थ लक्षण कथन, और लक्षण कथन का अर्थ है असाधारणधर्म का प्रतिपादन एवं लक्षण का लक्षण है **असाधारणधर्मवचनम्**। असाधारण धर्म अर्थात् विशेष धर्म उसे कहते हैं, जो केवल अपने लक्ष्य (जैसे-गो) में रहे।

तर्कभाषाकार ने **लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्** कहकर लक्षण को समझाने का प्रयास किया है। अर्थात् असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। जैसे गौ का लक्षण सास्नादिमत्त्व है। यह लक्षण की व्याख्या की है। असाधारण धर्म या विशेष धर्म वह कहलाता है जो केवल लक्ष्य(जैसे गौ) में रहे। जो धर्म लक्ष्य से भिन्न अलक्ष्य महिष आदि में भी पाया जाय वह लक्षण नहीं कहलाता है क्योंकि उसमें **अतिव्याप्ति** दोष होता है।

24.4.3 लक्षण के दोष

इसी प्रसंग में यह समझना भी आवश्यक है कि निर्दुष्ट लक्षण बनाने के लिये के लिये बाधक तत्त्व क्या क्या हैं। इन बाधक तत्त्वों को ही दोष भी जाता है। ये दोष हैं- अतिव्याप्ति, अव्याप्ति तथा असम्भव। लक्षण का लक्षण भी इन्हीं तीनों को चिह्नित करता है। इन दोषों को इस प्रकार समझा जा सकता है-

अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिःजो धर्म अलक्ष्य अर्थात् लक्ष्य से भिन्न में रहे वह अतिव्याप्ति दोषग्रस्त होने से लक्षण नहीं होता। जैसे सींग होने को गौ का लक्षण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि लक्ष्य गौ से भिन्न महिष आदि में भी शृङ्गित्व (सींग होना) धर्म पाया जाता है। अर्थात् सींग भैंस आदि के भी होते हैं, इसलिए शृङ्गित्व गौ का लक्षण नहीं है।

इसी प्रकार **लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः**जो धर्म लक्ष्य के एक अंश में न पाया जाय वह अव्याप्तिदोष ग्रस्त होने से लक्षण नहीं कहा जाता। जैसे- शाबलेयत्व अर्थात् चितकबरा होना गाय का लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि लक्ष्य गौ के एक बहुत बड़े भाग में अर्थात् बहुत सी गौओं में यह शाबलेयत्वया चितकबरापन नहीं पाया जाता है। अतएव यह शाबलेयत्वधर्म अव्याप्तिदोषग्रस्त होने से गौ का लक्षण नहीं हो सकता है।

तीसरा दोष **असम्भव** है। **लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः**अर्थात् जो धर्म लक्ष्य में ही विद्यमान न हो वह असम्भव दोष कहलाता है। जैसे एकशफत्व असम्भव दोषग्रस्त होने से गौ का लक्षण नहीं हो सकता है। गौ द्विशफ प्राणी है अर्थात् उसके खुर बीच से चिरे हुए होने से दो शफ (खुर) होते हैं। घोड़े का पूरा खुर एक होता है इसलिए घोड़ा एकशफ अर्थात् एक खुर वाला प्राणी है। परन्तु गौ एकशफ नहीं अपितु द्विशफ प्राणी है। अतएव यदि कोई एकशफत्व को गौ का लक्षण बनाना चाहे तो यह लक्षण एक भी गौ में नहीं मिलेगा। लक्ष्यमात्रसारी गौओं में अविद्यमान

होगा। अतएव वह गौ का लक्षण नहीं हो सकता।

इस प्रकार (अतिव्याप्तिअलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः) अव्याप्ति (लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वम् अव्याप्तिः) और असम्भव (लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः) इन तीनों दोषों से रहित धर्म ही लक्षण होता है। ऐसे धर्म को ही असाधारण धर्म या लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतधर्म भी कहते हैं। इसलिए **अतिव्याप्त्यादिदोषत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्**या **लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतो धर्मो लक्षणम्**।अथवा **असाधारणधर्मवचनम् लक्षणम्**यह तीनों ही लक्षण के लक्षण हो सकते हैं

तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु का लक्षण जो बनाया जाय, वह अतिव्याप्ति,अव्याप्ति,और असम्भव इन तीनों दोषों से रहित होना चाहिये। अत एव **अतिव्याप्त्यव्याप्त्यसम्भवेतिदोषत्रयरहितोऽसाधारणधर्मोलक्षणम्**यह लक्षण का लक्षण बताया जाता है।

24.4.3.1 लक्षण के अन्य दोष

उक्त तीनों प्रधान दोषों के अतिरिक्त शास्त्रकारों ने कुछ अन्य भी दोष गिनाये हैं, जो दोषरहित लक्षण में बाढ़ उत्पन्न करते हैं। ये हैं-

अन्योन्याश्रय- जो अन्योन्य (परस्पर) का आश्रय ग्रहण करे, उसे अन्योन्याश्रय कहते हैं। इसी भाव को लक्षण के माध्यम से बताते हैं- स्वग्रहसापेक्ष-ग्रहसापेक्षग्राहकत्वम् अन्योन्याश्रयत्वम्अर्थात् स्वज्ञान के प्रति जो ज्ञान अपेक्षा करे,उसी ज्ञान के प्रति पुनः यदि स्वज्ञान अपेक्षा करे तो वहाँ पर अन्योन्याश्रय नाम का दोष समझा जाता है। जैसे- महिषभिन्नत्व गोत्वम्एवं गोभिन्नत्वं महिषत्वम्यहाँ पर अन्योन्याश्रय दोष है। क्योंकि यहाँ पर गो-ज्ञान करने के लिये महिषज्ञान आवश्यक है एवं महिषज्ञान करने के लिये पुनः गो का ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार,जो पिता से जन्य (पैदा) हो वह पुत्र एवं जो पुत्र का जनक हो वह पिता यहाँ पर भी अन्योन्याश्रय दोष है,क्योंकि पितृज्ञान का सापेक्ष पुत्रज्ञान है और पुत्रज्ञान का सापेक्ष पितृज्ञान है।

आत्माश्रय- जो अपना ही आश्रय करे उसे आत्माश्रय कहते हैं। **स्वापेक्षापादक प्रसङ्गत्वम्आत्माश्रयत्वम्** अर्थात् जो स्व अपेक्षा का आपादक (जनक) हो उसको आत्माश्रय कहते हैं। जैसे-ज्वरघटित उपसर्गयुक्त रोग का नाम ज्वर हैयह ज्वर का लक्षण यदि किया जाये तो आत्माश्रय दोष होगा,क्योंकि यहाँ पर ज्वरज्ञानसापेक्ष ज्वरज्ञान है। अत: इस लक्षण में आत्माश्रय दोष है क्योंकि अपना ज्ञान कराने के हेतु अपना ही आश्रय करता है। किसी भी वस्तु का लक्षण करते समय दोषों पर दृष्टि अवश्य देनी चाहिये,अन्यथा लक्षण दुष्ट होता है।

अतएव **अतिव्याप्त्यादिदोषत्रयरहितो धर्मोलक्षणम्**अथवा **लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतो धर्मो लक्षणम्** अथवा **असाधारणधर्मवचनम् लक्षणम्** इन तीनों को ही लक्षण का लक्षण कहा जा सकता है।

इस प्रकार उक्त तीनों प्रकार के दोषों से रहित लक्षण ही लक्षण का लक्षण कहा जा सकता है- ऐसा नैयायिकों का स्पष्ट मत है।

24.5 परीक्षा

न्याय सूत्र के प्रथमसूत्र में षोडश पदार्थों की गणना उद्देश रूप में की जा चुकी है। उसके बाद विविध प्रसंगों में उन-उन पदार्थों का लक्षण किया गया। नैयायिकों का यह सामान्य कथन है कि लक्षण सही है कि नहीं उसकी परीक्षा भी की जानी चाहिए। इसलिये यह निर्देश प्राप्त होता है कि **तेनेते लक्षणपरीक्षे कर्तव्ये**। इस क्रम में अब यहाँ भाष्यकार निर्दिष्ट तीसरी शास्त्र प्रवृत्ति का विवेचन किया जा रहा है।

जिसका लक्षण किया गया है वह उसका ठीक लक्षण है या नहीं इस विचार का नाम परीक्षा है- **लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचार: परीक्षा**।

उद्दिष्टस्य यथालक्षणं विचार: परीक्षा अर्थात् जिसका लक्षण किया गया है अर्थात् लक्षित वह लक्षण लक्ष्य में घटता है या नहीं, इस विचार का नाम ही परीक्षा है। इस सन्दर्भ में नैयायिकों ने एक तर्क देते हुए कहा है कि उद्देश सम्बन्धी प्रवृत्ति की पूर्ति प्रमाण प्रमेयादि प्रथमसूत्र में ही हो जाने के पश्चात् प्रमाण, प्रमेय इत्यादि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान के निमित्त उनकी लक्षण और परीक्षा करनी ही चाहिये।

जिस पदार्थ का लक्षण किया जाता है वह लक्षित कहलाता है। परीक्षा में यह विचार करना पड़ता है कि स्वयं किया गया हुआ लक्षण लक्षित वस्तु में पूर्णरूपेण घटता है अथवा नहीं? दूसरे आचार्यों अथवा सम्प्रदायवेत्ताओं अथवा व्याख्याकारों ने जो लक्षण किसी लक्षितवस्तु के किये हैं वे कहाँ तक युक्तिसंगत है? इस प्रकार के अन्यों द्वारा किये गये लक्षण लक्षितवस्तु में पूर्णरूपेण घटते हैं वा नहीं? उदाहरण के लिये प्रमाण का ही लक्षण **प्रमाकरणं प्रमाणम्**दिया जा रहा है। उसकी भली-भाँति परीक्षा की जायगी कि यह लक्षण लक्षित पदार्थों में पूर्णरूपेण घटता अथवा नहीं?अन्य मीमांसक आदि कथित आचार्यों द्वारा किये गये **अनधिगतार्थगन्तु: प्रमाणम्** आदि लक्षण युक्ति-संगत है वा नहीं? तथा वे लक्षित पदार्थों में पूर्णरूपेण घटित होते हैं अथवा नहीं।

न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्य ने उद्देश,लक्षण और परीक्षा नामक तीन शास्त्रप्रवृत्तियों में से इसमें परीक्षा नामक प्रवृत्ति के विश्लेषण पर अधिक बल दिया गया है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा उद्देश लक्षण तथा परीक्षा रूप त्रिविधा शास्त्रप्रवृत्ति का स्पष्टीकरण मली भाँति हो गया है। इन तीनों के द्वारा हो किसी पदार्थ का विशद विवेचन किया जाना संभव है।

24.6 सारांश

न्याय दर्शन के शास्त्र प्रवृत्तिविषयक इस पाठ में आपने तीन प्रकार की शास्त्र प्रवृत्तियों का उल्लेख पाया। ये प्रवृत्तियाँ हैं- उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा। पदार्थों की गणना को उद्देश, उन पदार्थों के विशेष धर्म का बोध दिलाना लक्षण तथा वह लक्षण सही है या नहीं उसके विमर्श को परीक्षा बताया गया है। ये तीनों प्रवृत्तियाँ सविशेष न्याय दर्शन के शास्त्रों के लिये है- ऐसा इस पाठ में स्पष्ट किया गया। इसके साथ ही हम यह भी जान पाए कि इन प्रवृत्तियों का प्रथम उल्लेख हमें वात्स्यायन भाष्य में प्राप्त होता है।

इसके साथ ही हमने यह जाना के लक्षण को तीन प्रकार के दोषों से रहित होना चाहिए। ये दोष हैं- अतिव्याप्ति, अव्याप्ति तथा असम्भव। इन तीनों दोषों को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए

आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय जैसे कुछ अन्य दोषों की भी चर्चा की गई। इन तत्त्वों के समर्थन शास्त्रीय उद्धरणों के साथ-साथ सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दों को भी उद्धृत किया गया है।

आशा है न्याय शास्त्र के प्रारम्भिक बिन्दु को समझने में यह पाठ सहायक सिद्ध होगा।

24.7 शब्दावली

अतिव्याप्ति - लक्षण को असिद्ध करने वाला ऐसा दोष जो अन्य पदार्थों के लक्षण में भी घटित हो जाए।

अव्याप्ति - जो धर्म लक्ष्य के एक अंश में न पाया जाय

असम्भव - लक्ष्य पर घटित न होने वाले लक्षण

परपरीक्षा - विरोधियों के कथन की समीक्षा।

वृत्ति - शास्त्रप्रवृत्ति के लिये पतंजलि के द्वारा प्रयोग में लाया गया शब्द।

शफ - खुर (पशुओं के पैर का सबसे निचला हिस्सा)

सास्ना - गलकम्बल, गाय के गर्दन के नीचे लटकने वाली त्वचा

सास्नादिमत्त्व - गलकम्बल युक्त होना।

24.8 बोध-प्रश्न

24.8.1 अतिलघूत्तरीय

1. उपदेश देश शब्द किसके लिये प्रयुक्त हुआ है?
2. न्यायदर्शन में भाष्यकार किसे कहा जाता है?
3. शास्त्र की कितनी प्रवृत्तियां हैं?

4. लक्षण को दूषित करने वाले तीन तत्त्व कौन कौन से है?
5. परीक्षा का लक्षण दें।

24.8.2 लघूत्तरीय

1. शास्त्र-प्रवृत्ति पर टिप्पणी करें।
2. अतिव्याप्ति नामक दोष को समझाएं।
3. आत्माश्रय दोष क्या है?
4. लक्षण-परीक्षण के लिये परीक्षा क्यों आवश्यक है?
5. असाधारण धर्म की विशेषता बताएं।

24.8.3 दीर्घोत्तरीय

1. शास्त्र-प्रवृत्ति में लक्षण का क्या प्रयोजन है, विमर्श करें।
2. लक्षण के दोषों को विस्तारपूर्वक समझाएं।
3. त्रिविध शास्त्र प्रवृत्ति पर एक सोदाहरण निबन्ध लिखें।

24.8.4 अतिलघूत्तरीय प्रश्नों के उत्तर

1. उद्देश, 2. वात्स्यायन, 3. तीन, 4. अतिव्याप्ति, अव्याप्ति तथा असम्भव, 5. उद्दिष्टस्य यथालक्षणं विचारः परीक्षा

24.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. उपाध्याय, बलदेव, **आचार्य सायण और माधव**,चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, द्वितीय संस्करण
2. उपाध्याय, बलदेव,**भारतीय दर्शन**,चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, 1967
3. चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद,**भारतीय दर्शन सरल परिचय**राजकमल प्रकाशन, 1965
4. झलकीकर, **न्यायकोश**, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, 1997
5. झा, डॉ० वीणा,**शङ्कर का अद्वैत वेदान्त**, **बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी**, **पटना**
6. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ,**भारतीय दर्शन का इतिहास**,राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 1988
7. द्विवेदी, डॉ० पारसनाथ, **भारतीय दर्शन**,श्रीराम मेहर एण्ड कम्पनी, पुस्तक प्रकाशक, आगरा
8. बन्दिष्टे, डॉ० डी०डी०,**भारतीय दार्शनिक निबन्ध**,मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1983
9. भट्टाचार्य, डॉ० अभेदानन्द,**शांकर वेदान्त**, दुर्गा पब्लिकेशन, 1991
10. भारतीय, महेश, **भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ** इण्डो-विज़न प्रा. लि. गाजियाबाद, 1999
11. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार, **प्रमाणमञ्जरी** VidyanidhiPrakashan, Khajoorikhas, Delhi – 110090, 2018
12. मिश्र, नयराम,**आदि शङ्कराचार्य जीवन और दर्शन**,लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984
13. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार,**तर्कसंग्रह तर्कदीपिकासहित तन्वी व्याख्या** Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 2013
14. मिश्र, डॉ० पंकज कुमार,**वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप**Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 1998
15. मिश्र, प्रो० हृदय नारायण, **अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक विवेचन**,उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2011
16. शर्मा, डॉ० ऊर्मिला,**अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान** छन्दस्वती प्रतिष्ठान वाराणसी,1978
17. शर्मा,चन्द्रधर, **भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन**,मोतीलाल बनारसीदास,प्रथम संस्करण,1990
18. शर्मा, राममूर्ति,**भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा**,मणिद्वीप दिल्ली, 1999

19. शास्त्री, द्वारिकदास,**न्यायदर्शनम्** वात्स्यायनभाष्यसहित,बौद्ध ग्रन्थमाला 11, बौद्धभारती वाराणसी, 1984
20. शास्त्री, द्वारिकदास,**न्यायभाष्य,** सुधी न्थमाला 10, सुधी प्रकाशन 1986
21. शास्त्री**,** रामानन्द तिवारी**, भारतीय दर्शन की भूमिका**,नवयुग प्रेस**,** भरतपुर**,** 1958
22. शुक्ल**,** डॉ. दीनानाथ**,भारतीयदर्शन परिभाषा कोश**,प्रतिभा प्रकाशन**,** दिल्ली। प्रथम संस्करण**,** 1983
23. सरस्वती**,** श्रीहरिहरानन्द**, वेदान्त विचार**,नारदघाट**,** वाराणसी
24. Mishra, Pankaj Kumar, **THE TARKABHASHA** of Keshav Mishra Parimal Publication, Shakti Nagar, Delhi, 2005